

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६६, वर्ष-१५, जुलाई-२०११

परमागमसारमें से चयन किये हुए
पूज्य गुरुदेवश्री के कुछएक वचनामृत

प्रश्न :- संसारसे थकान लगनेका उपाय क्या ?

उत्तर :- संसारमें शुभा-शुभ-भाव हैं सो दुःखरूप हैं; उनके फलमें चार उनमें अनेक प्रकारके दुःख व आकुलता है - ऐसा अंतरंगसे वेदन होना चाहिए; शुभाशुभ-भाव दुःखरूप ही हैं, ऐसा लगने पर ही संसारसे थकान लगती है । ५२३



(सहज तत्त्व) अन्तराल पड़े बिना, कर्म-विघ्न बिना, रागके विघ्न बिना निरंतर सुलभ है । सहज तत्त्वके सतत् अभ्याससे वह सुलभ है । भगवान आत्मा चैतन्य-प्रकाशका पूर है । अज्ञानी ऐसी महिमावन्त वस्तुकी महिमापूर्वक अन्तरमें नहीं उतरता व बाहरकी चीजोंमें ही अटका रह जाता है । ५२८



प्रश्न :- अन्तरमें उतरनेके लिए रुचिकी आवश्यकता है अथवा अन्य कुछ भूल है ?

उत्तर :- अन्तरमें उतरनेके लिए सच्ची रुचि ही चाहिए, परन्तु उस रुचिके विषयमें अन्य नहीं कह सकते, स्वयंको ही निश्चय करना चाहिए । सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाए व अपना काम करले । ५४०



प्रश्न :- सूक्ष्म उपयोगका आशय क्या ?

उत्तर :- अन्तरमें आत्मा ध्रुववस्तु विराजमान है, उसे लक्ष्यमें लेनेवाला उपयो सूक्ष्म है । पुण्य-पापके परिणाममें रूकने वाला उपयोग स्थूल है । ५४१



प्रश्न :- उपयोग सूक्ष्म कैसे हो ?

उत्तर :- अन्तरमें विराजित अचिंत्य सामर्थ्यवाली आत्मवस्तुकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्तरमें झुके । ५४२



जिसे आत्माका रस लगा है उसे बाहर सारी दुनियामें कहीं अधिकता नहीं लगती। जिसे बाहरमें मिटास लगती है उसे आत्माकी रुचि-महिमा नहीं होती । ५४८



सर्व प्रथम शर्त तो यह है कि मुझे दूसरी कोई चीज़ नहीं चाहिए । मुझे "एक आत्मा ही चाहिए" - ऐसा दृढ़ निश्चय हो । दुनियाकी कोई चीज-पैसा-इज्जत आदि कुछ भी नहीं चाहिए। मुझे तो बस ! एक आत्मा ही चाहिए, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए । ५४९



भाई ! मनुष्य भव मिला है तो यह (काम) कर ले, बाकी सब कुछ छोड़ दे ! चिन्ता छोड़ और यह कर ले । प्रशंसा करने वाली दुनिया कोई काम नहीं आएगी, अतः बाहरका सब छोड़कर यह (काम) कर ले । ५५०



भाई ! तू सत्की गहरी जिज्ञासा कर, ताकि तेरा प्रयत्न यथार्थतः चलता रहे । तेरी परिणति सुल्टी होकर आत्मामें परिणमित हो जाएगी । यदि सतके गहरे संस्कार रोपे होंगे और इस भवमें कार्य न भी हुआ हो तो आगामी गतिमें सत् प्रकट हो जाएगा । सातवीं नरकके नारकीकी वेदनाका पार नहीं, परन्तु अन्तरमें पूर्व-संस्कार जागृत होने पर वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, अतः अन्तरमें सत् के गहरे संस्कार डाल । भाई, गहराईसे सतके संस्कार डाल ! ऊपर-ऊपरसे तो संस्कार अनेक बार डाले हैं, परन्तु एक बार भी गहराईसे यथार्थ संस्कार डाले तो अगली गतिमें ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो जायेगा । ५५८



एक बार परके लिए मृत समान हो जाना चाहिए । परमें मेरा कोई अधिकार ही नहीं। अरे भाई ! तू तो राग और रजकणको कर ही नहीं सकता, तू ऐसा ज्ञाता-दृष्टा द्रव्य है । ऐसे ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावकी दृष्टि कर । उपयोगको चारों ओरसे समेट कर एक आत्मामें ही मग्न हो। ५७२

जीवको एक समय भी संसारका विस्मरण नहीं हुआ । जो एक समय भी विस्मरण हो तो इसके हितका शुभारम्भ हो । जिसकी सत्ताका कभी विरह न हुआ, जिसकी सत्तामें कभी अपूणता न हुयी, जिसकी सत्ता किसीके अधीनस्थ न हुयी - ऐसी जो त्रिकाल-निरावरण वस्तु है उसकी नजरबंदी हो जानी चाहिए । उस द्रव्य पर ही दृष्टि बंधी रहनी चाहिए । मुझे मेरे सिवा अन्य किसीका आश्रय नहीं - इस प्रकार ध्रुव पर नजरबंधी हो जानी चाहिए। ५८०





**बहिनश्री के वचनामृत पर पूज्य भाईश्री
शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं. ३७६
(दि.२८-५-१९९०)**

(मुमुक्षु कैसा होना) चाहिये। तत्संबंधित स्पष्ट मार्गदर्शन इस दूसरे वचनामृत में है।

मुमुक्षु कैसा होता है ? पहले तो यह बात की। 'अंतर की गहराई से अपना हित साधने को जो आत्मा जागृत हुआ...' कैसा होता है ? कि, 'अंतर की गहराई से अपना हित साधने को जो आत्मा जागृत हुआ...' ऐसा नहीं कहते कि, तू अमूक क्रिया करने में लग जा। ऐसा नहीं कहते कि, अमूक संप्रदाय में लग जा। ऐसी बात नहीं करते। तू एक आत्मा है और तुझे तेरे आत्मा का हित करना, कल्याण करना इसमें भी तुझे शिकायत होना तो सोचा भी नहीं जा सकता, खुद को अपना हित करना उसमें क्या हरज्जा हो सकता है ? सवाल इतना है कि जिस विधि से सधे उसी विधि से हित हो। उस रीति से हित करना। उतना सवाल रहता है।

यहाँ यह रीत नहीं मिलती है उस रीत में भूल होती है। उस रीत के बजाय दूसरी रीत हो जाती है ऐसा बनता है। ऐसा नहीं हो इसके लिये क्या करना चाहिये ? किसी को इरादापूर्वक उन्मार्ग पर चलना हो ऐसा तो नहीं होता। जान-बूझकर अपना अकल्याण करने का अभिप्राय तो कौन रखेगा ? ऐसा कौन सोचेगा ? कोई आत्मा तो ऐसा नहीं विचार करेगा। आत्मा तो हमेशा अपना कल्याण हो ऐसा ही विचार करेगा। उसकी सर्वप्रथम तैयारी ऐसी है। ऊपर-ऊपर से आत्मकल्याण करने की इच्छा या भावना, वह इस मार्ग को हाथ नहीं आने देगा।

तीनों काल मोक्ष का, आत्मकल्याण का एक ही मार्ग है। क्योंकि यह पदार्थ का विज्ञान है।

आत्मा एक ज्ञानस्वभावी पदार्थ है और उसमें शुद्धि-अशुद्धि के साथ जीव का हित-अहित यानी कि सुख या दुःख अविनाभाविरूप से जुड़ा हुआ है। अतः इसकी रीत में कोई फेरफार नहीं होता। जैसे हलवे की रीत में, हलवा बनाने की रीत में कोई फेरफार कभी नहीं होता। एक ही प्रकार से (बनता है)। यहाँ बनाये चाहे कोई देश-परदेश में बनाये। भूतकाल में बनाये, वर्तमान काल में बनाये या भविष्यकाल में बनाये। इसतरह आत्मकल्याण की जो रीत है उसे आत्मकल्याण का मार्ग कहते हैं, उपाय कहते हैं। और कल्याण वह उसका उपेय है। यह विषय अनादि से रहस्यभूत रहा है, गुप्त रहा है।

प्रत्येक धर्म में अपनी-अपनी आत्मकल्याण की मानी हुई क्रिया तो सब लोग करते हैं परन्तु वाकई आत्मकल्याण हो रहा है कि नहीं ? इस विषय में शंकित रह जाते हैं। कोई Definte - खातरीपूर्ण, Guaranteed बात नहीं करता है कि हमने ऐसा करके आत्मकल्याण कर ही लिया है। ऐसा-ऐसा सब करते-करते कभी न कभी आत्मकल्याण हो जायेगा ऐसा अनिश्चित भविष्य रखकर और कुछ नहीं सूझने पर जो भी सूझता है वह करते रहते हैं। कहते हैं कि, वह कोई व्यवहार- Practical उपाय नहीं मान सकते। अपना जीवन हम ऐसे नहीं जीते। निश्चित लाभ होगा ऐसा पूरा भरोसा होने पर ही परिश्रम करते हैं। अनिश्चितता हो तो परिश्रम करने का मन नहीं करता।

यहाँ 'पूज्य बहिनश्री'ने एक बहुत नीव की कोई सुंदर बात की है तो यह करते हैं कि सबसे पहली बात यह है कि तुझे आत्मकल्याण, आत्महित साधने की जो भावना है वह अंतर की गहराईपूर्वक

हुई है ? तो सामान्यरूप से कोई ऐसा कहे कि, हमें कहाँ ऊपर-ऊपर से करनी है ? और तो और कुछलोग तो... हमारे यहाँ का ही विचार करे तो, दूसरों का हमें क्यों करना भी चाहिये ? बहुत से लोग निवृत्ति लेकर 'सोनगढ़' में रहते हैं। इसतरह सैकड़ों लोग वहाँ आकर बसे हैं। तो क्या बिना भावना आये हैं ऐसा आप कहेंगे क्या ? ऐसा कहना तो ठीक भी नहीं लगता, सामनेवाले को बुरा लग जाये कि, भाई ! हम हमारा व्यवसाय, कुटुम्ब-परिवार, लड़के-लड़की आदि कुटुम्ब छोड़कर यहाँ अकेले रहते हो, वृद्धावस्था में रहते हो, साथ में रहने में साधन-सम्पन्न होने से सुविधा काफी हो, यहाँ तो इतनी सुविधा भी न हो। गाँव में तो गर्मी के दिनों कड़ी धूप होती है तो इन सब हालात में आदमी कोई बिना भावना रहता है क्या ? ऐसे में 'पूज्य बहिनश्री'ने इस विषय में खुद को किसी दूसरे को पुछने जाना न पड़े और स्वयं ही खुद का पता चल जाये कि, क्या मेरी भावना अंतर की गहराई से है या मेरी भावना ऊपर-ऊपर की है ? इसकी प्रतीति स्वयं ही कर सके इसके लिये दूसरा वचन लिया है।

जिसको अंतर की गहराई से अपना हित साधने की जागृति आयी और 'जिसे आत्मा की सच्ची लगन लगी...' यह इसका दूसरा लक्षण लिया। आत्महित साधने की अंतर की गहराई की भावना के साथ-साथ आनुषंगिक परिणाम ऐसे होते हैं। साथ में होनेवाले। आनुषंगिक अर्थात् ? साथ में होनेवाले परिणाम ऐसे ही होते हैं कि, जिसमें आत्मा की सच्ची लगन लगती है। वहाँ (सोनगढ़) रहकर भी, निवृत्ति लेकर भी छोटी-बड़ी अनुकूलताओं के पीछे ही परिणाम लगे रहे या वहाँ के संयोगों के संबन्धित परिणाम ही रहा करते हो; संयोगों नाम जड़, चेतन, सचेत, अचेत, मिश्र सब उसमें आ जाता है, संयोग कहते हुए। किसी व्यक्तिविशेष की, किसी दूसरे की, तीसरे की जिसे लौकिक भाषा में पंचायत कहते हैं। निठल्ला क्या करेगा ?

गाँव की पंचायत (इधर-उधर की बातें) करेगा। तो ऐसा सब क्यों होता है ? क्योंकि अंतर में लगन जो नहीं लगी इसलिये होता है।

जिसको आत्मा की लगन लगती है वह किसी के सामने नहीं देखता। जिसकी लगन लगी उसी के पीछे लगा रहता है। लगनी लगने का मतलब यह है कि जिसकी लगन लगे उसके पीछे लगा ही रहे उसका नाम लगन लगी है ऐसा कहा जाता है। तो फिर यहाँ तर्क उठेगा कि सुबह पूजा करना, फिर एक घण्टा गुरुदेवश्री की टेप सुनना, बाद में खाने के समय पढ़ता है तो कोई सुविचार करता है। दोपहर को थोड़ा आराम करके दोपहर में स्वाध्याय का समय होने पर उसमें उपस्थित हो जाये, बाद में जिनमंदिर में भगवान की भक्ति करे, वापिस शाम के खाने के पहले जितना समय मिले तो उसमें पुनः थोड़ा वांचन विचार करे। रात में भी सोने से पहले आधा घण्टा-घण्टा थोड़ा बहुत चिंतवन कर ले। इसप्रकार निवृत्तिकाल में सारे दिन का नित्यक्रम बना लिया हो तो इसको लगन लगी माने या नहीं ? यह तो एक तर्क है। ऐसा भी नहीं करते हो बल्कि समय गवाँते हो, लायब्रेरी में चले जाय या अखबार का ढेर लगाकर पढ़ने में लगा रहे उसकी तो हमें चर्चा भी नहीं करनी है। परन्तु अगर कोई सद्विचार में समय व्यतीत करता हो तो भी लगन लगना यह कोई अलग चीज है। इसमें छटपटाहट पैदा हो जाती है। हररोज शाम होते ही जी जलने लगता है। आज शाम हो गई, सारे दिन में कुछ किया नहीं। दोनों के बीच क्या अंतर है ? एक को लगता है कि हररोज मैं दो-चार घण्टा कुछ करता हूँ। कुछ भी किये बिना नहीं रहता। निवृत्ति ली है इसलिये मैं कुछ न कुछ करता हूँ ऐसा उसका लगता है। वह लगन रहित जीव है। करता है फिर भी हूँ !

मुमुक्षु :- इतना कुछ करने के बावजूद भी लगन नहीं है ?

पूज्य भाईश्री :- फिर भी वह लगन बिना का जीव है। क्योंकि उसको ऐसा लगा है कि मैं कुछ करता हूँ। यह इसका चिन्ह है, लक्षण है। जबकि दूसरे को ऐसा लगता है कि, मुझे जो करना है वह अभी नहीं हो रहा है और हररोज शाम हो जाती है। जैसे कोई सारा दिन व्यापार करने पर भी एक पैसे की कमाई न हो तो क्या होगा ? जीव जलेगा की नहीं ? कि, सारे दिन का खर्च हुआ, खाने का खर्चा, दुकान का भी खर्च हुआ और व्यापार किया उसमें भी जो दाम में लाये थे उसी दाम में माल बेच देना पड़ा। बाजार टूट गई है तो अभी दुकान से एक पैसा कमाई होनेवाली नहीं है। ग्राहक आकर कहता है कि, भाई ! ऊपर में दाम घट गये हैं देना है तो दे दीजिये वरना कल घाटे में बेचने की नौबत आयेगी। इससे तो अच्छा है कि आप अपनी खरीद कीमत पर निकल जाये जब आज लेने आये ही है तो माल दे दीजिये। सारा दिन मेहनत करे, माल भी काफी हद तक निकाल दे परन्तु एक पैसा भी कमाया नहीं हो तो क्या होगा ? हिसाब लगाये तो कहेगा भाई ! इतने हजार का माल बेचा, क्या कमाया ? कुछ नहीं कमाया। तब क्या होगा उसको ? खेद होता है, दुःख होता है कि माल खरीदने का परिश्रम किया, बेचने का परिश्रम किया, उगाही का जोखिम भी उठाया, पैसा लगाये, नोकरों का खर्च किया, हाथ में कुछ नहीं आया।

वैसे जीव को शाम होते ही कुछ नहीं होता है यह उसे दिखता है जबकि अगले को वह नहीं दिखता। उसे तो लगता है कि, मैंने कुछ किया है। किये है, हालाँकि शुभभाव जरूर किये हैं परन्तु आत्मकल्याण कोई दूसरी चीज़ है। वह पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, दया, दान, व्रत, तप आदि से ऊपरी कोई विशिष्ट प्रकार की चीज़ है और वह नहीं होने का उसे खेद होने लगता है, उसका खटका उत्पन्न होता है।

ऐसी जिसे आत्मा की सच्ची लगन लगी,

उसकी आत्मलगन ही उसे मार्ग कर देगी... जो कि लोकोत्तर मार्ग है। जीव अंतर्मुख होकर अपने स्वरूप को अनुभव में लेता है, प्रतीत में लेता है और शुद्धोपयोग से स्थिर होता है ऐसा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणी-मोक्षमार्ग है उस मोक्षमार्ग को कौन करता है ? कौन कर देता है ऐसा मार्ग ? कि, जिसको आत्मप्राप्ति की लगन जो होती है वह उसे मार्ग कर देती है, स्वयमेव वह मार्ग कर देती है। उसे लगन कहो, रुचि कहो क्योंकि रुचि भी वैसी ही चीज़ है कि वह अपने विषय से अलग नहीं रह सकती।

आत्मा की रुचि, आत्मा से अलग नहीं रहती। वह आत्मा को प्रगट करके ही रहती है - उसका नाम आत्मरुचि है। और जबतक प्रगट न हो तबतक चैन नहीं पड़ता, कहीं चैन नहीं पड़ता, कहीं भी चैनपूर्वक बैठता नहीं।

आत्मकल्याण अथवा आत्मप्राप्ति के पहले जीव को ऐसी एक बैचेनी पैदा होती है, वह भी लगन का ही लक्षण है, वह भी भावना का लक्षण है, वह भी स्वरूपप्राप्ति की जो भावना है, अंतर की भावना है उसका लक्षण है कि अंतर की भावनावाले को भावना की सिद्धि न हो तो बैचेनी उत्पन्न होती है और जब भावना अंतर से नहीं होती है तो उसकी सिद्धि नहीं हुई हो तो भी आराम से खा-पीकर सो जाता है। जबकि अगले को नींद नहीं आती इतना फ़र्क पड़ता है। ऐसा कहते हैं।

अरे...! जिन महात्माओं ने, धर्मात्माओं ने स्वरूपप्राप्ति की उन्होंने इसके पीछे रुदन किये हैं। स्वरूप की प्राप्ति न हो तो आँखों से अश्रु की धाराएँ छूटती थी कि, अरेरे...! यह क्या इस जीव को अभी भी कहाँ अटकना है ? क्यों अटकना है ? और क्यों अभी भी आलसी होकर पड़ा है यूँ का यूँ ? जबकि आलसी नहीं होता है तो भी। हँ ! आलसी सच में हो उसका तो प्रश्न ही नहीं है, इसे तो छटपटाहट रहती है। प्रमादी न होने के बावजूद भी खुद को ठपका देते हैं,

फिर भी खुद की निंदा करते हैं।

कहने का आशय वह है कि, उसवक्त आत्मप्राप्ति और लगन व रुचि और छटपटाहट के उच्च कोटि के परिणाम होने पर भी उसे वहाँ संतोष नहीं होता। जब कि ऊपरी-ऊपरी भावनावाले को इससे निम्न कोटि के परिणाम होने के बावजूद भी उसमें संतोष होता है। इसतरह दोनों के रास्ते विरुद्ध हैं। दोनों के प्रकार में परस्पर विरुद्धता होती है। यह विरुद्ध प्रकार जो है वह समझ में न आये और उसका विचार भी न हो, उसका ख्याल भी न हो ऐसे जीवों को यहाँ पर धर्मात्माओं ने बहुत स्पष्ट करके सरल भाषा में बात रख दी है। भाई ! तुझे शायद नहीं पता चलेगा। व्यापार-धंधा करनेवाले को तो दुःख होगा कि, हमलोग यह रोज़ाना पाप की गठरियाँ बाँधते हैं, इससे तो छूटे तो अच्छा। भवभीरु होगा जब तो हँ ! भवभीरु नहीं होगा तो तो ऐसा नशा में चढ़ जायेगा कि पीछे हटने का मन ही नहीं करेगा। वह भी एक नशा है। परन्तु कोई भवभीरु जीव हो तो उसे ऐसा विचार आता है। परन्तु वह व्यापार-धंधा छोड़ने के बाद हमें तो हमलोगों जैसी बात लेनी है। किसी और की बुराई नहीं करनी है। हमें तो हमें लागू पड़ता हो उसी पर विचार करना है कि अब हमलोग क्या कर रहे हैं ? और क्या हो गया है हमारे आत्मा में ? ऐसी अंतर की गहराई से भावना या उत्कंठा लगी है ? कि, ऐसे ही सब चलता है ? जाने-अनजाने में संतोष तो नहीं ले रहे हैं कि, हमने व्यापारादि बंद करके अब पाप तो बंद कर दिया। अब देव-गुरु-शास्त्र, पूजा, भक्ति, स्वाध्याय तो चालू किये हैं। तो यहाँ कहते हैं कि, एक दुकान तूने बंद की है। 'सोगानीजी' के शब्दों में कहे तो, पहले दुकान पर जाकर तू वहीखाता के पन्ने पलटता था, अब यहाँ आकर शास्त्र के पन्ने पलटने लगा है। वास्तव में जो करना चाहिये वह तू नहीं कर रहा है। एक दुकान बंद करके दूसरी दुकान चालू कर

दी। ऐसे स्पष्ट शब्दों में लिया है। उनकी तो ज़रा तीखी शैली थी। आत्मा को अंतर से खड़ा कर दे ऐसी तीखी शैली थी ज़रा उनकी।

कहते हैं कि ऐसी अगर 'आत्मा की सच्ची लगन लगी (तो) आत्मलगन ही उसे मार्ग कर देगी' अब यहाँ क्या कहना है ? अब यहाँ थोड़ा सूक्ष्म विचार है कि, सामान्यतया धर्म के क्षेत्र में ऐसी शुभयोग की क्रिया में जो मुमुक्षु प्रवृत्त हैं वे लोग भी उलझे हुए हैं कि, मार्ग क्यों हाथ नहीं लग रहा है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणी-मोक्षमार्ग वे तो मुख्य तीन गुणों के, आत्मा के मुख्य तीन गुणों के परिणाम की बात ली है कि, जो सम्यक् हुए हैं, स्वाभिमुख हुए हैं, अंतर्मुख हुए हैं। परन्तु अंतर्मुख कैसे होना यह मार्ग हाथ में नहीं आता और तबतक जीव सबकुछ बाहर ही बाहर में रहकर किया करता है। बहिर्मुखभाव से, बहिर्मुख परिणाम सहित सबकुछ करता रहता है जो कि उसके लिये वास्तव में धर्मरूप नहीं है, धर्म के कारणरूप भी नहीं है। धर्म तो नहीं है किन्तु धर्म के कारणभूत भी नहीं है। ऐसे वह बाहर ही बाहर बहिर्मुख परिणाम कर रहा है। उन्हें फिर कभी उलझन पैदा होती है कि यह मार्ग अंतर में सूझता क्यों नहीं है ? क्यों मार्ग की प्राप्ति नहीं हो रही है ? तो इसके लिये वह सोचता है कि, चलो मैं कुछ पढ़ूँ, ऐसा मार्ग जिस में प्रसिद्ध किया हो ऐसे शास्त्रों का पठन करूँ, अथवा ऐसा मार्ग जिसने प्रकट किया हो ऐसे सत्पुरुष के, महापुरुष के समीप जाकर उनके सत्संग में, समागम में जाकर, उनके चरणों में निवास करके मैं कुछ मार्गप्राप्ति कर लूँ। ऐसे अभी भी बाहर में खोजने जाता है। उसे कहते हैं कि, तेरा मार्ग अंतर में है और अंतर में तेरी लगन तुझे मार्ग कर देगी। दूसरा कोई तुझे मार्ग नहीं कर देगा। क्योंकि मार्ग जो है वह शब्दों में शास्त्र में, शब्द हो या महापुरुष के शब्द हो परन्तु वे मर्यादित भाषा में, मर्यादित शब्दों में व्यक्त

होता है जबकि अधिकांश उसमें अव्यक्त रह जाता है, जिसे कहना संभव नहीं है। कह सके ऐसी स्थिति नहीं होती उसमें। जहाँ ऐसी परिस्थिति हो इसका फिर उपाय क्या ?

यदि मार्ग कहा जा सकता तो वह बात बहुत अच्छी होती कि बहुत से जीव प्राप्ति कर लेते। परन्तु यह एक कुदरती वस्तुव्यवस्था है कि इस मार्ग को अल्पमात्रा में या संकेतमात्ररूप से कहा जा सकता है, शेष अव्यक्त रह जाता है, व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा व आत्मप्राप्ति का मार्ग दोनों अव्यक्तव्य हैं। कथंचित् अव्यक्तव्य है और कथंचित् ही व्यक्तव्य है ऐसी शास्त्र में भी यह बात प्रसिद्ध है। अब जो अव्यक्तव्य है इसका क्या इलाज ? तो कहते हैं इसका यह इलाज है, भाई !

तुझे जो चाहिये वह तेरे परमहित का विषय है। आत्मकल्याण नाम परम कल्याण। कि, जिसके फिर संसार में जन्म-मरण छूट जाते हैं और संसार के समस्त प्रकार के दुःखों का नाश होकर सादि अनन्त... अनन्त... अनन्त... समाधि सुख में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान सहित बिराजमान हुआ जाये ऐसे सिद्धपद की जो प्राप्ति होती है इसका मूल इस जगह है। जिसका आखरी Station-destination जिसको कहते हैं वह सिद्धपद है। इसके आगे कोई पद नहीं है। इसका मूल इस जगह है। प्रथम ही संसार में परिभ्रमण कर रहे संसारीजीव को अंतर की गहराईमें से इसी स्वरूप प्राप्ति की, मार्गप्राप्ति की लगन लगती है।

कोई ऐसा कहे कि, लगन तो लगानी है, परन्तु लगती नहीं है इसका क्या करें ? अभी यहाँ प्रश्न होता है कि, आपलोग नहीं उठाते हैं तो मैं उठाता हूँ। बात अच्छी है। बात में हमें कोई हरजा नहीं है। आपकी बात के साथ हमें कोई विरोध नहीं आता फिर लगन लगती नहीं है इसका क्या करें ? यह भी एक समस्या है, हँ ! गुथी है। और लगन लगती नहीं है इसलिये हमलोग पूजा, भक्ति, स्वाध्याय ये सब तो करते

ही रहते हैं। भले ही लगन न हो किन्तु दूसरा कुछ करने से तो ये सब करना ठीक ऐसा जानकर भी करते रहते हैं। वरना तो दूसरा करने लगेंगे।

एक बात यहाँ विचार करने जैसी है कि भले ही तू दूसरा नहीं करता हो बल्कि ये सब करता हो परन्तु ऐसा मानकर कर कि ऐसा करते-करते लाभ होगा तो यह बहुत बड़ा अटकन का स्थान हो जायेगा, वही तुझे अटकने का स्थान हो जायेगा। परन्तु ऐसा मानकर व्यापारादि में न जाकर मार्ग खोजने के लिये, मार्ग खोजने का चालू रखकर,... क्योंकि वरना वहाँ भी तकलीफ है कि मार्ग खोजना छोड़ दे और यंत्रवत् रुढ़िगत क्रिया में आ जाये कि रोजाना पूजा करो, स्वाध्याय करो, रोजाना स्तुति बोलो, रोजाना इतना-इतना करो वे सब क्रियाएँ जो हैं उसके ढाँचे में तू आ गया।

मुमुक्षु :- गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है तो गुरु की सेवा करे तो होगा क्या ?

पूज्य भाईश्री :- गुरु बिना ज्ञान होता नहीं यह बात सच्ची है। लेकिन गुरु की सेवा करना माने क्या ? पैर दबाना वह बात नहीं है। गुरु की सेवा करना मतलब गुरु के वचनों का सेवन करना। ये पैर को चरण कहते हैं और चरण शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक चरण मतलब पैर और दूसरा चरण मतलब वचन। चरणसेवा, गुरुचरण सेवा क्या कहा है ? गुरुचरण की सेवा करना। तो इसमें नासमझ हो वे क्या करते हैं ? पैर दबाने लगते हैं। पैर दबादो भाई ! ऐसा नहीं है। वे जो कहना चाहते हैं, इसकी सेवा करना मतलब सेवन करना। इसका नाम गुरुचरण सेवा है। इसको गुरु का मिलना कहते हैं। वरना तो मिले, नहीं मिले सब एक-सा ही है। योग-अयोग सब एक ही बात है। कोई फ़र्क नहीं है उसमें।

यहाँ तो हमें दूसरी बात करनी है कि, हमें लगन लगती नहीं है इसका क्या करें ? इसीलिये फिर हमलोग ये सब करते रहते हैं। तो कहते

हैं कि ठहरो, इसलिये करते हैं माने क्या ? लगन नहीं लगती है इसलिये ये सब करना माने क्या ? उसे साधन माना है या साधन नहीं माना है यह पहले जवाब दीजिये। अगर साधन नहीं माना है तो साधन के पीछे आपके परिणाम की प्रक्रिया चलती है कि नहीं ? अगर साधन मान लिया होगा तो कुछ नहीं चलेगा फिर तो वहाँ अटकन का स्थान हो गया। चलिये, हमलोग पूजा करें, भक्ति करें, शास्त्र स्वाध्याय करें, गुरुदेवश्री की टेप सुनते हैं और ऐसा-ऐसा सब करते हैं तो कभी न कभी तो हमें लाभ हो जायेगा, तो इसमें तो आशा रखना व्यर्थ है। इसतरह कोई आशा रखना बेकार है। अनन्तकाल बीते तो भी नहीं होगा। इस जीदगी में तो नहीं होगा अपितु अनन्तकाल ऐसा करेगा तो भी नहीं होगा ऐसी यह चीज है।

मुमुक्षु :- श्रीमद्जी कहते हैं, अनन्तकालथी आथड्यो विना भान भगवान...

पूज्य भाईश्री :- हाँ ! बिना भान मतलब आत्मा का भान नहीं किया। इसलिये तू परिभ्रमण कर रहा है ऐसा कहते हैं। यहाँ तो इससे पहले क्या करना यह बात है। भान होने के लिये क्या करना ? यह विषय प्रस्तुत वचनामृत में है।

अब यहाँ एक बात यह स्पष्ट करने योग्य है कि जीव का ऐसा स्वभाव है कि, जहाँ जिसको ज्यादा लाभ हो उसतरफ का रस, उसतरफ का उत्साह और उसतरफ का प्रयत्न किये बिना वह रह नहीं सकता। उसे करने से रोक नहीं सकते। (बड़ा लाभ दिखता हो) तब कोई कहे कि, खाना खा लीजिये तो कहेगा भाई ! घरवाले फिर होगी तो याद कर लेंगे। हमें याद करने की जरूरत नहीं है। वे लोग याद कर लेंगे या टिफन भेज देंगे, या व्यवस्था करेंगे। वरना कोई बात नहीं एक दिन नहीं खायेंगे तो कोई मर जानेवाले नहीं है। अभी यह काम कर लो। अभी टेलिफोन छोड़ने जैसा नहीं है। ऐसा लग जाता है कि नहीं ? क्योंकि सामने बड़ा लाभ दिखता है।

यहाँ जीव को लाभ दिखा नहीं। लगन लगी नहीं इसका अर्थ यह हुआ कि यह आत्मकल्याण यानी कितना बड़ा लाभ ? यह बात जीव की समझ में आयी नहीं अभी। यह बात समझ में आये इसलिये यह स्वाध्याय है। स्वाध्याय मतलब पढ़ लेना एक व्यक्ति पढ़ के और २५-५० लोग सुन ले इसका नाम स्वाध्याय नहीं है। परन्तु वह समझ अपनी जगह समझ ले रूप में ठीक नहीं हुई है तो समझ कर लेने का यह एक प्रयोग है, दूसरा कुछ नहीं है। यह रूढ़ि नहीं है, रीवाज नहीं है। यंत्रवत् करने की क्रिया नहीं है अपितु एक प्रयोग है कि, जिसमें स्वयं को अपने कल्याण की कीमत जो नहीं भासित हुई है वह भासित हो, लगी नहीं वह लगे, इसीका नाम समझ हुई कहा जाये। वरना बुद्धि से तो सब लोगों को समझ में आता है। नहीं समझे हैं क्या ? ऐसा कोई कहे तो कहेगा क्या हम समझे नहीं है क्या ? समझ का अर्थ यह है कि लगता है ? भासित होता है क्या ? इसका नाम है समझना। अगर लगेगा नहीं और भासित होगा नहीं तो लगन लगेगी नहीं समझ में आयेगा फिर भी लगन नहीं लगेगी। और समझ में आया होगा उसमें यही समझ में नहीं आयेगा कि लगन क्यों नहीं लगती है ? ऐसा कहेगा कि बात तो सही है किन्तु लगन कैसे लगे वही समझ में नहीं आयेगा। लगन लगाये नहीं लगती बल्कि सहज ही लगती है। इसे समझ के साथ सीधा संबंध है।

यथार्थ समझरूप ज्ञान उसे कहते हैं, यथार्थ समझरूप ज्ञान उसे कहते हैं कि, जो आत्मस्वभाव की लगन को उत्पन्न करे वरना समझ नहीं कोई गैरसमझ हुई है। समझ नहीं है तो उसे क्या समझना ? कि, वह सब गैरसमझ हैं ऐसा समझने योग्य है। ऐसा यह बोल है। यह जो वचनामृत है वह यों कहता है कि तुझे भावना सहित लगन लगी क्या ? जब तो तू समझा ऐसा तुझे कहेंगे। वरना तू खूद भले ही मानता है कि मैं समझा हूँ परन्तु भ्रम में रह गया है वास्तव में तू नहीं समझा।

मुमुक्षु :- (एक मुमुक्षु) जब देखो तब यही तत्त्व की चर्चा करते थे।

पूज्य भाईश्री :- हाँ! वे तो पुराने परिचयी थे। हम सब तो नये-नये हैं। एक तो उम्र में भी वे बड़े, 'विंछीया' के हैं न ? 'गुरुदेव' तो... 'सोनगढ़' के बाद में पहला (मंदिर 'विंछीया' में बना)। सबसे पहले 'सोनगढ़' में हुआ। बाद में 'गुरुदेवश्री' की प्रेरणा से जितने भी मंदिर बने उनमें से सबसे पहले 'विंछीया' का मंदिर। अतः 'विंछीया' के मुमुक्षुगण 'गुरुदेवश्री' को सर्व प्रथम व अधिक संख्या में अनुसरते थे। यह एक स्वाभाविक है। 'गुरुदेवश्री' के कारण तत्त्वविचार ये सब विचार चलता है।

मुमुक्षु :- अभी तक जो कुछ भी समझे...

पूज्य भाईश्री :- क्योंकि जीव को इस समझ के फलस्वरूप भावना व लगन उत्पन्न होने चाहिये। यह नहीं उठने पर भी खुद ने ऐसा माना है कि 'मैं समझता हूँ, मुझे पता है।' ये सब बातें मुझे समझ में आती, जो भी पढ़ता हूँ, सुनता हूँ वह मुझे समझ में आता है यानी कि 'मैं समझता हूँ' - यह बड़ी गलतफहमी है।

मुमुक्षु :- 'श्रीमद्जी' जो कहते हैं उस हिसाब से यह स्वच्छंद में आया।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। 'श्रीमद्जी' के शब्दों में कहे तो वह स्वच्छंद है। 'मैं समझता हूँ' यह परिणाम स्वच्छंद के हैं। ठीक बात है। अतः उसमें से पुनः अवगुण पनपता है।

क्या कहते हैं यहाँ ? एक बहुत अच्छी बात की है तो वह कि, जो मार्ग अनादि से अनजाना रहा है, जो रहस्यभूत मार्ग है, जो अवक्तव्य है उस अवक्तव्य मार्ग को व्यक्त करने के लिये आत्मस्वरूप की प्राप्ति की भावना और उसकी लगन जो है वह स्वतः ही कार्य करते हैं। और ऐसा कार्य तिर्यच को भी होता है उसका कारण यही है। हमलोग दो-पाँच घण्टे कुछ करते हो, सो तो कुछ नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी तो कितना करता

है ? दीक्षा अंगिकार करके जंगल में जाते हैं। इसमें कुछएक राजा-महाराजा, करोड़ोंपति-अरबोंपति लोग भी दीक्षा लेकर, कुटुम्ब-परिवार संपत्ति छोड़-छाड़कर जंगल में चले जाते हैं। वनवास में रहते हैं तो क्या बिना आत्मलगन के रहते होंगे ? प्रश्न तो सब उठाने जैसे हैं। यह समर्थ दृष्टान्त है। यह हमारा वर्तमान जीवन का दृष्टांत है। उन्हें भी किये का संतोष वहाँ होता है। जैसे यहाँ थोड़ा किया उसका संतोष है वैसे किसी को अधिक किये का संतोष होता है। और यह संतोष ही दर्शनमोह की पर्याय है। दर्शनमोह की पर्याय नहीं बल्कि दर्शनमोह की तीव्र पर्याय है। वहाँ मिथ्यात्व वृद्धिगत हुआ है और इसके कारण जीव को मार्ग सूझता नहीं है।

जब आत्मस्वरूप की लगन है वह दर्शनमोह के अनुभाग को तोड़ती है उसकी शक्ति को तोड़ती है। अनुभाग को तोड़ना मतलब इसकी शक्ति को तोड़ती है। अतः ज्ञान में निर्मलता पैदा होती है। मुमुक्षु की भूमिका के योग्य निर्मलता होती है कि जिसके कारण जीव को मार्ग सूझता है। इसलिये जीव की लगन उसे मार्ग कर देगी ऐसा कहा। एक में दर्शनमोह बढ़ता है, चारित्रमोह अवश्य मंद होता है, परन्तु चारित्रमोह मंद होने के काल में वह चारित्रमोह की मंदता में संतुष्ट हुआ जीव दर्शनमोह की वृद्धि करता है। ध्यान दर्शनमोह पर देने जैसा है, चारित्रमोह पर नहीं। क्योंकि पहले वह जायेगा। चारित्रमोह Temporary मंद हुआ होगा, थोड़े समय के लिये वह पुनः तीव्र होने में देर नहीं लगती। क्योंकि वह दबा हुआ कषाय है। दबा हुआ कषाय तो कभी भी भभक उठेगा। अतः पहले दर्शनमोह के विषय में लक्ष्य देने योग्य है कि, इसमें क्या हो रहा है। ऐसा करने से इसमें क्या होगा ? यह बात प्रथम लक्ष्य में होनी चाहिये।

मुमुक्षु :- ऊपर-ऊपर से लगना...

पूज्य भाईश्री :- चोट लगे तो अच्छी बात है। चोट लगने की जरूरत है। सुनते ही चोट

लगनी ही चाहिये। चोट लगने से ही काम में उद्यमवंत होता है वरना तो आलसी होकर यूँ ही बैठा रहेगा तो स्थूल हो जायेगा।

मुमुक्षु :- पात्रता प्रगट नहीं होने से चोट नहीं लगी।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ठीक है। चोट लगना यह पात्रता का लक्षण है। स्वयं की पात्रता का अभाव है ऐसा लगे तो वहाँ स्वच्छंद न हो कि, अभी तो मुझे पात्रता आनी बाकी है, मेरी तो पात्रता में बहुत क्षति है। पात्रता प्रगट करने में कोई लंबा Process नहीं है, कोई लंबा प्रयोग नहीं है, कोई बड़ी शर्त नहीं है, कोई दूसरी बात नहीं है। एक आत्मकल्याण की तीव्र भावना व तीव्र इच्छा हो तो तत्क्षण पात्रता का जन्म हो जाता है, दूसरी सेकन्ड नहीं। उस ही वर्तमान में। पात्रता लाना सब से आसान बात है। अतः यह मार्ग सरल है, सुगम है, सुंदर है, आसान है ऐसा कहा जाता है, इसका कारण पात्रता है। कि पात्रता प्रगट करना आसान बात है और पात्रता प्रगट हो जाने के पश्चात् आगे बढ़ना तो बहुत आसान है। बिना पात्रता सब मुश्किल हैं।

कहाँ तक मुश्किल है ? रुचि नहीं है, लगन नहीं है, पात्रता नहीं है वहाँ तक मुश्किल बात है। परन्तु जैसे ही पात्रता प्रगट हो कि रास्ता साफ हो जाता है, आसान हो जाता है। सुगम व सरल हो जाता है मार्ग। अतः पात्रता प्रगट करने के लिए क्या करना ? कि, बस ! तेरे स्वरूप प्राप्ति की, तुझे कल्याण की भावना होनी चाहिये। तेरे आत्मकल्याण की तीव्र भावना, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं माँगते। इस भावना के वश सारे आनुषांगिक परिणाम उत्पन्न हो जायेंगे, लगन के, दूसरे, तीसरे व रुचि के व छटपटाहट के परिणाम सब होने लगेंगे।

अब बात इतनी ही है कि, इस जीव को स्वयं को अंतर में पूछने की जरूरत है कि, तुझे यह अनन्तकाल पश्चात् प्राप्त हुए मनुष्यभव में कर

लेना है कि नहीं करना है ? नक्की करके बतला दे। यह बात जबतक भीतरमें से दृढ़ मोक्षेच्छा प्रगट नहीं होगी, इसकी दृढ़ता नहीं आयेगी तब तक लगन, उत्कंठा कुछ भी उत्पन्न होनेवाला नहीं है। फिर तो चाहे कुछ भी कर लो सब बेकार है। जो कुछ भी करेगा संसारार्थ होगा। सीधी बात इतनी सी है। मोक्षार्थ तो कुछ होगा नहीं परन्तु जो कुछ भी करेगा सब संसारार्थ होगा। क्योंकि थोड़े पुण्य बंधेगे, पुण्य के फल में वस्तुओं की प्राप्ति होगी, इस भव में या परभव में और वहाँ फिर उसे भोगते समय ढेर सारा पाप का निबंधन किये बिना रहेगा नहीं। यह परिस्थिति, यह पूर्वानुपूर्व चलता ही आया है। अनादि से यही क्रमशः होता आया है कि, धर्म के क्षेत्र में जाकर आत्मकल्याण करने के बजाय शुभभाव करके पुण्यबंध किये और उसे भोगते हुए पाप बंधन किया है, अधोगति में गया, दुःख भोगा, ऐसे में कभी मंदकषाय करके उर्ध्वगति में आया कि, पुनः वही परिस्थिति चालू हो गई। मोक्षमार्ग ग्रहण नहीं किया।

मुमुक्षु :- मुझे आत्मकल्याण कर ही लेना है ऐसा निश्चय कैसे हो ?

पूज्य भाईश्री :- इसीलिये तो पुछना है कि, क्या करना है ? क्योंकि यह अभी हम हमारा विचार करे तो हमलोग अभी जो कुटुम्ब, परिवार, नौकरी, व्यवसाय या जो भी लेकर बैठे हैं। ठीक है ? और ये सब करना हैं वह तो नक्की ही है, इसमें कोई बाधा खड़ी होती है तो कितनी व्याकुलता हो जाती है यह कोई समझाने की जरूरत नहीं है। क्योंकि सबके अनुभव का विषय है। तो ऐसा होने का क्या कारण है ? कि यह करना है, किये बिना चलेगा नहीं। यह किये बिना नहीं चलेगा अतः करना ही है। ऐसा यहाँ आत्मकल्याण के बारे में कभी लगा ? ऐसा अनन्तबार किया। आयु पूर्ण करके करता-करता चला जायेगा। फिर तो सारे के सारे काम अधूरे रह जायेंगे। किसी के पूरे होते ही नहीं। आयुष्य

अपने काल में पूरा हुए बिना रहता नहीं। इसमें एक समय बढ़ाने का किसी का इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र किसी का अधिकार उसमें नहीं है। कोई शाश्वत रहा नहीं है, रहनेवाला भी नहीं है। प्रत्यक्ष दिखे ऐसी स्वीकार हो चाहे नहीं हो परन्तु Hard fact है यह तो। स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अब नक्की यह करना है कि, क्या तूझे यँही संसार में भटकना ही है क्या ? फिर तो इसका कोई इलाज नहीं है, उसे तो कोई बचानेवाला नहीं है। जो बंधन में आना चाहता है उसे कोई छुड़ानेवाला नहीं है और जिसे भीतरमें से छूटना ही है उसे कोई बाँधनेवाला नहीं है। चाहे जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हो यह सिद्धांत है। स्वयं को परिभ्रमण से छूटना है कि नहीं ? इस दुःख से छूटना है या नहीं ? इतना खुद का अंतर टटोलकर निर्णय कर ले तो नहीं समझ में आये ऐसी कोई बात है नहीं। क्योंकि जिसको वाकई कल्याण करना है उसके लिये ये सारी बातें हैं। उसके लिये यह चर्चा है। उसके लिये यह विषय है। जिसको अंतर से ऐसा लगा हो कि स्पष्ट प्रीति से संसार करना ही है तो 'श्रीमद्जी' ने कहा ४५४ पत्र में हमने पढ़ा कि, उसने तो ज्ञानीपुरुष के वचन भी नहीं सुने। सुने हो तो भी। उसने ज्ञानीपुरुष के दर्शन भी नहीं किये, चाहे दर्शन किये हो तो भी। यह स्पष्ट बात है। वहाँ तेरी हाजिरी नहीं गिनी जायेगी। तू ऐसा मानता हो कि, मैं सुनने के लिए और दर्शन करने के लिए हाजिर हो जाता हूँ लेकिन वहाँ तेरी हाजिरी नहीं गिनी जाती। गैरहाजिरी गिनी जाती है। जाती है कि यह भाई गैरहाजर है। हाजिर होने पर भी गैरहाजिरी गिनी जाता है।

मुमुक्षु :- प्रीति से संसार भोगना है।

पूज्य भाईश्री :- क्योंकि जीव को प्रीतिपूर्वक संसार भोगना है। यानी उसे संसार की स्पष्ट प्रीति है। एक बात उसे नक्की कर लेनी चाहिए कि, स्पष्ट प्रीति से आत्मकल्याण करना है या

स्पष्ट प्रीति से संसार चाहिये ? फिर रास्ता हाथ लगेगा। वहाँ तक रास्ता अलग नहीं होगा। चाहे कुछ भी कर तो भी संसार का ही रास्ता है तबतक। ऐसा नक्की करने के पहले जो कुछ भी करता है सब संसारमार्ग है, मोक्ष का मार्ग एक अंश में भी नहीं है।

मुमुक्षु :- विकल्प खींच ले जाते हैं।

पूज्य भाईश्री :- विकल्प कोई मुक्त के नहीं खींच जाते हैं। विकल्प का जो विषय है उसका महत्व लगता है तभी तो खींच जाते हैं, ठीक है ? जबकि तेरे आत्मकल्याण का तुझे महत्व नहीं लगा। और जिस विषय में विकल्प चले जाते हैं उसका महत्व है इसका अर्थ क्या होता है ? कि तुझे लगन कोई दूसरी लगी है। लगन संसार की है, लगन आत्मकल्याण की नहीं है।

मुमुक्षु :- उपजे मोह विकल्पथी समस्त आ संसार।

पूज्य भाईश्री :- समस्त आ संसार। 'श्रीमद् राजचन्द्रजी' की टंकोत्किर्ण बात है।

मुमुक्षु :- विकल्प उठेगा तो जरूर उसे मोड़ लेने का।

पूज्य भाईश्री :- उसे आधार मत दो। आत्मजागृतिपूर्वक... मुमुक्षुता का यह लक्षण है। आत्मजागृति वह मुमुक्षुता का लक्षण है। वरना जिसको आत्मजागृति नहीं है और विकल्प के प्रवाह में बह जाता है वह मुमुक्षु नहीं है। फिर भले ही अवकाश मिलने पर ठवनी और शास्त्र लेकर बैठे। वह तो समय मिलने पर वैसे उदय में आया है। उसप्रकार के उदय में आया है। जैसे उदय के घर की दीक्षा लेते हैं कि नहीं ? वह उदय है उसका और कुछ नहीं। वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है। वैसे तेरा उदय है इसलिये पुस्तक लेकर बैठा है। ऐसा नहीं चले। अंतर की जागृति होनी चाहिये।

'आत्मा की सच्ची लगन लगे और अंतर में मार्ग न हो जाय ऐसा हो ही नहीं सकता।' यह Guaranteed बात है। Guaranteed

बात है अथवा सत्पुरुषों ने अनुभव की हुई बात अनुभव से कही है। सत्पुरुषों ने अपने अनुभव की बात अनुभव से अनुभवपद्धति से यहाँ रख दी है कि जिसको 'सच्ची लगन लगे और अंतर में मार्ग न हो जाय ऐसा हो ही नहीं सकता।

तिर्यच सम्यक्दर्शन को प्राप्त करता है, तू तो मनुष्य है। क्योंकि उस जीव को भीतर में लगा है कि, मुझे अब आत्मकल्याण के अलावा कुछ करना ही नहीं है। थोड़ा यह भी करना है और थोड़ा यह भी करना है। दो घोड़े की सवारी में नीचे गिर जायेगा तू। एक पैर एक घोड़े पर और दूसरा पैर दूसरे घोड़े पर और फिर रेस में घोड़े रख दिये। तो अच्छी तरह गिरेगा। और कुछ नहीं होगा। वैसे यह भी करना है और यह भी करना है इसमें तो गिरने के अलावा कोई रास्ता ही नहीं है।

वैसे एक बात नक्की कर ले कि तुझे किस रास्ते पर जाना है ? संसार छोड़ना है या संसार रखना है ? पहले नक्की कर। फिर आगे चलने की बात है। नक्की किये बिना आगे चलने का प्रश्न नहीं है। निर्णय बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा कहते हैं कि, 'आत्मा की सच्ची लगन लगे और अंतर में मार्ग न हो जाय ऐसा हो ही नहीं सकता।' तीन काल में नहीं बनता, कोई काल में नहीं बनता ऐसा कहते हैं। होवे ही होवे। ऐसा नहीं है कि, फिर आत्मकल्याण नहीं होनेवाला होगा तो ? नहीं होना होगा तो... यह बात ही छोड़ दे तू। ऐसा बनेगा ही नहीं। लगन लगी है उसका अर्थ ही ऐसा है कि, अब आत्मकल्याण नजदीक आ गया है। यह जीव आसन्नभव्य है।

परन्तु 'आत्मा की लगन लगनी चाहिये, उसके पीछे लगना चाहिये।' 'पूज्य बहिनश्री के वचनमृत' महिलाओं की सभा में उनके द्वारा हुआ शास्त्रस्वाध्याय-वाचनमें से चुने हुए वचनमृतों का संग्रह है। हमलोगों को तो बहिनों की सभा में उपस्थित होने का प्रसंग नहीं था क्योंकि वहाँ कोई पुरुषवर्ग

को Allow नहीं करते थे। प्रतिबंध था। ये तो पुस्तकारुढ़ हुए तो हमलोगों को उनके वचनों संबंधित जानकारी हुई, समझने मिले, सामने आये, वरना शायद ये सब बातें यँ ही पड़ी रह जाती। समाज में प्रसिद्धि में नहीं आती या पुरुषवर्ग को नहीं मिलती। जो बहिनें उनकी सभा में जाती थी उन्हें मिलता था। कुछलोग लिख लेते थे इसलिये तो पुस्तकाकार हो सके। परन्तु इसपर से, इस वचन पर से ऐसा समझ में आता है कि जब-जब 'पूज्य बहिनश्री' महिलाओं की सभा में, धर्मसभा में प्रवचन करते होंगे तब इस विषय पर उनके प्रवचनों में काफी झुकाव रहता होगा। भावना-स्वरूपप्राप्ति की भावना, स्वरूपप्राप्ति की लगन, इसकी उत्कंठा इस विषय में उनका बहुत जोर रहता होगा। और सुननेवाले मुमुक्षुओं को इस विषय में वे प्रेरित करते होंगे। जोरपूर्वक (कहते होंगे) इसके बिना आगे चलने की बात नहीं रहती। प्रथम सीढ़ी यह है। इस सीढ़ी पर पैर रखे बिना दूसरी सीढ़ी पर पैर रखने की बात नहीं रहती।

मुमुक्षु :- आज श्रुतपंचमी का दिन है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, आज श्रुतपंचमी है। श्रुतपंचमी नाम वर्तमान में जो द्रव्यश्रुत रहा है वह ताडपत्रों में शास्त्रारुढ़ जब हुआ तब 'अंकलेश्वर' के पास आज के दिन जेठ सुदि पंचमी, तब द्रव्यश्रुत का पूजन का उत्सव मनाया गया था। इसकी महिमा की गई थी। षटखंडागम नामका प्रथम ग्रंथ बना था। पुष्पदंत और भूतबलि जैसे आचार्यों को जो ज्ञान कंठस्थ था वह पुस्तकारुढ़ हुआ। ये ग्रंथ ताडपत्रों पर लिखे गये बाद में 'अंकलेश्वर' के पास इसका सर्वप्रथम जेठ सुदि ५, आज से दो हजार वर्ष पहले उत्सव मनाया गया था तब से जेठ सुदि ५ को श्रुतपंचमी के रूप में मनाया जाता है।

द्रव्यश्रुत है वह स्वरूप का निर्णय करने के लिये बाह्य निमित्त है। इसलिये १४४ गाथा की टीका में भगवान 'अमृतचंद्राचार्यदेव' 'समयसार' में ऐसा कहते हैं कि, प्रथम तो श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी

आत्मा का निश्चय करो। इस द्रव्यश्रुत में शुद्धात्मस्वरूप कैसा है इसका निरूपण किया गया है। इसके साथ तू अपना निर्णय करके मिलान कर लेना कि ऐसा ही आत्मा जैसा द्रव्यश्रुत में कहा है ऐसा ही आत्मा मुझे निश्चय में, मेरे ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है कि नहीं। वह इसका बाह्य निमित्त है।

यह एक ऐसा निर्दोषता का मार्ग है कि भले ही जड़ हो लेकिन अगर उपकारी होता है तो उसका भी वंदन और पूजन किया जाता है। द्रव्यश्रुत तो जड़ है। पुस्तक के पन्ने तो जड़ हैं। चेतन नहीं है तो भी वह वाणी सर्वज्ञ अनुसारिणी होने से 'राजमलजी' यह बात कहते हैं, सर्वज्ञ अनुसारिणी वाणी होने से वह भी व्यवहार अपेक्षा वंदन के योग्य है और पूजन के योग्य है।

मुमुक्षु :- जिनवाणी माता है।

पूज्य भाईश्री :- अगर जिनवाणी वंदन व पूजन के योग्य है जब कि उसमें चेतनत्व नहीं होने पर भी, तो जिनमें चैतन्यत्व प्रगट हुआ हो और जो एक न्याय से जिन हुए हैं। करणलब्धि में आये तब से वे जिन हुए हैं, वे तो वंदन और पूजन के योग्य हैं ही, यह कहने की जरूरत भी नहीं रहती। अतः धर्मात्माएँ सब वंदन करने योग्य हैं व पूजन करने योग्य हैं। यह बात इसमें आ जाती है।

यहाँ कहते हैं कि, 'आत्मा की सच्ची लगन...' लगनी चाहिये। सच्ची लगन लगनी चाहिये और सच्ची लगन लगने का यह चिह्न है, लक्षण है कि इसके पीछे जीव लग जाता है। नहीं कहते हैं कि भाई ! अब यह पीछे पड़ गया है। जो बात इसको महत्व की लगे वहाँ पीछे लग जाता है कि नहीं ? ये करना ही होगा और करना ही है। इतना आवश्यक है कि मुझे किये बिना छोड़ना नहीं है। बस ! इतनी जरूर है। मुझे मेरा आत्मकल्याण किये बिना इस बात को छोड़ना नहीं है ऐसी तीव्रता आ जाये तब मार्ग भीतर में मिल जाता है। अंतर्मुख होने का मार्ग हाथ लग जाता है। सहज ही हाथ में आ जाता है

ऐसा द्रव्यश्रुत और निमित्त बाहर में मौजूद ही है। निमित्तों को खोजने जाना नहीं पड़ता। सहज होते ही हैं। उसकी नजर पहुँचती है कि, अरे ! मुझे जो मार्ग चाहिये उसे बतानेवाले ये रहें। ऐसा खुद को पता चल जाता है। इसका नाम निमित्त मिला ऐसा कहा जाता है। और ऐसा पता न चले तब तक मिलने पर भी नहीं मिला है ऐसा कहा जाता है। जैसे इसको निमित्त ही नहीं मिला है क्योंकि नैमित्तिक भाव उसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

'आत्मा को ध्येयरूप रखकर दिन-रात सतत प्रयत्न करना चाहिये।' क्या कहते हैं ? रात्रि-दिन अहोरात्र। जबकि, यहाँ तो थोड़ा दूसरा काम आ जाये कि जीव इसमें इतना एकाकार हो जाये। अरे मामूली बात हो तो भी एकाकार हो जाता है। फिर पीछे से शास्त्र की व तत्त्व की बात करे तब आत्मा को याद करे !

मुमुक्षु :- नींद में भी प्रयत्न चलता है क्या ?

पूज्य भाईश्री :- नींद में भी चलता है। ये नींद में सपने आते हैं कि नहीं भाव अनुसार ? जिसके पीछे लग जाये उसे नींद में भी वैसे स्वप्न आते हैं कि नहीं ? एक रटन चलता है। नींद में भी परिणति तो चलती है। वही चले। जिसको जो चाहिये और जिसके पीछे जो लग जाता है उसे नींद में भी वही चलता है और जागृत हो तब भी वही चलता है। यह इसकी वास्तविकता है। यह तो ऐसी चीज़ है जिसकी कोई कीमत न हो सके ऐसी चीज़ है। जिसकी कीमत आ जाये ऐसी कोई भी चीज़ में भी ऐसा ही होता है तो जिसकी कीमत न हो ऐसी अमूल्य चीज़ में ऐसा नहीं हो तो और क्या होगा बताईये ? जिसकी लौकिकरूप से आबरू है, कीमत है, रुपये-पैसे में, दूसरे-तीसरे प्रकार से इसमें भी आदमी के, जीव के परिणाम ऐसे हो जाते हैं कि, पूरा का पूरा अंदर में स्वाहा हो जाता है व डूब जाता है तो फिर जिसका कोई मूल्य न हो सके ऐसी चीज़ है यह तो। इसमें अगर इसकी कीमत भासित

हो कि ये इसका तो किसी भी चीज से मूल्य हो ही नहीं सकता ऐसी महान वस्तु है। तो इसके पीछे ऐसे ही परिणाम उत्पन्न हो जाये, दूसरे प्रकार से होंगे ही नहीं। यह जीव का स्वभाव ही है। जबतक ऐसा नहीं होता तब तक जीव ने यह बात को न तो जानी, न सुनी है, न तो इसका विचार किया है या फिर उसे मानों कुछ पता ही नहीं है।

मुमुक्षु :- भाव में भासन नहीं होता।

पूज्य भाईश्री :- भाव में भासन नहीं होने से इसकी कीमत नहीं आती है। भासित हो जाये तो कीमत आये बिना रहे नहीं।

मुमुक्षु :- वैराग्य आ जाये।

पूज्य भाईश्री :- वैराग्य आ ही जाये। सब जगह से वैराग्य आ जाये। यह एक ही करना हो तो दूसरी जगह से हट ही जाये न ! दोनों तरफ पैर रखे ऐसा तो संभव है ही नहीं। संसार के कार्य में पूरी तरह रत होगा तो मोक्षमार्ग के प्रति विरक्त ही होगा। वह भी वैरागी ही है लेकिन उलटा वैरागी है। जबकि अपना मोक्ष साधने की छटपटाहट जिसको होगी उसे कहीं भी रस आनेवाला है ही नहीं। उसे रस आयेगा ही नहीं। लाना होगा तो भी नहीं आयेगा ऐसी बात है।

यह हलुकर्मी जीव का, पात्रतावान जीव का एक लक्षण लिया कि उसके वर्तमान जो भी उदयमान परिणाम हैं इसमें उसको दुःख लगता है। विकल्प में दुःख लगता है उसको। दुःख लगे वहाँ फिर वैराग्य नहीं आयेगा तो क्या होगा ? जिसमें दुःख लगे उसमें क्या होता है ? विरक्तता आती है। अतः जिसको दुःख लगता है, सर्व विकल्पों में, हँ ! शुभःअशुभ सब विकल्पों में, उसे विकल्प का मोह नहीं रहता। विकल्प के मोह के कारण विकल्प टिका है। जिसको विकल्प में दुःख लगता है उसे विकल्प का व्यामोह नहीं रहता, उसका विकल्प टूट जायेगा। वह निर्विकल्प हो जायेगा। नियम से बात है।

इसलिये आत्मा को ध्येयरूप रखकर दिन-रात सतत प्रयत्न करना चाहिये। देखो ! सत्पुरुष

के वचन हमेशा पुरुषार्थ को जागृत करनेवाले होते हैं, पुरुषार्थ को जागृत करनेवाले होते हैं। यह एक सत्पुरुष के वचनों का लक्षण है, चिह्न है कि आत्मा को सतत जागृत करनेवाले होते हैं, भीतर में पुरुषार्थ की प्रेरणा करनेवाले होते हैं।

कैसी लगन होती है उसका अवतरण चिन्ह में दो वचन लिये हैं कि कैसी लगन लगती है ? कि 'मेरा हित कैसे हो ?' सतत इस विषय की जागृति। 'मेरा हित कैसे हो ?' और 'मैं आत्मा को कैसे जानु ?' पहचानु ? मेरे स्वरूप को मैं कैसे पहचानु ? कैसे अनुभव करुं ? इसतरह मेरा हित कैसे हो ? यह लगनी का विषय है। 'इस प्रकार लगन बढ़ाकर...' ऐसे। लगन कैसी ? ऐसी लगन। लगन माने क्या ? उसे विकल्प में और वचन में दो बात रख दी हैं कि यह लगन का विषय है, यह लगन का प्रकार है।

'इसप्रकार लगन बढ़ाकर...' यानी उत्तरोत्तर वृद्धिगत करके 'प्रयत्न करे तो अवश्य मार्ग हाथ लगे।' ऐसे। अवश्य हाथ लगता है नहीं लगने का प्रश्न ही नहीं है ऐसा कहते हैं। अगर वास्तव में लगन लगे तो मार्ग मिले बिना रहे नहीं और बिना ऐसी लगन लगे मार्ग मिल जाये ऐसा भी कभी बनता नहीं। दो बात आमने-सामने हैं प्रतिपक्ष में हैं कि, ऐसी लगन लगे तो मार्ग मिले बिना रहे नहीं और ऐसी लगन न लगे तो कभी मार्ग हाथ लगता नहीं, लगता ही नहीं - यह भी निश्चित बात है। अब जीव को खुद को पसंदगी कर लेनी है कि, मार्ग चाहिये कि नहीं ? मार्ग प्राप्त करना है कि नहीं ? यह एक पसंदगी का विषय है। जिसकी जैसी योग्यता होगी वह उसे पसंद कर लेगा। हमें तो अपना विचार कर लेना है कि हे जीव ! तुझे क्या करना है ? तुझे अगर यह पसंद हो तो चला आ। रास्ता खूला है, मार्ग अभी भी खूला हुआ है। यह एक परम सौभाग्य की बात है कि मोक्षमार्ग इस काल में भी अखण्डरूप से मौजूद है। इस काल में भी मोक्षमार्ग (विद्यमान रहा है)।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.६-८-१९९१

ॐ श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी... धर्मस्नेह

'आपका पत्र पहले भी मिला था व शशीभाईका एक और भी। आपने लिखा था कि अब निवृत्ति काल पका, यह पढ़कर बिजलीके वेगकी तरह आनंदकी लहर आयी थी;...' देखो ! निवृत्तिके लिए कितनी छटपटाहट है ! ज्ञानी होनेके बाद भी निवृत्तिके लिए कितना छटपटाते हैं !! आपका निवृत्तिका काल पका, इतनी बात लिखी (कि) बिजलीका करंट लगा हो ऐसी आनंदकी लहर आ गई। जिसको निवृत्ति है उसको कीमत नहीं है या समय पसार करनेके लिए समय बिगाड़ते हैं। जब कि ऐसे ज्ञानियोंको पूर्वकर्मके उदयवशात् निवृत्ति नहीं हो, तो बात सुनते ही, उन्हें निवृत्तिकी कोई बात कह दें तो भी हर्षित हो जाते हैं। (पत्रमें) लिखा कि, अब आपका निवृत्ति काल पका, तो उनको बहुत अच्छा लगा, 'कारण पूर्व निवृत्ति ही विकल्परूपसे निश्चय भजी थी, ऐसा पूरा प्रतीतिमें आता है।' निवृत्तिको बहुत भजी थी मतलब निवृत्तिका बेसब्रीसे इंतजार किया था। स्वयं निवृत्तिके लिए (और) प्रवृत्ति छोड़नेके लिए बहुत आतुर हैं। (प्रवृत्तिमें) रस नहीं, कंटाला आता है (ऊब जाते हैं)। इसलिए अब निवृत्ति आयेगी ऐसा जब आपने कहा, आपका निवृत्तिका काल पका लगता है, (ऐसा लिखा) तो बहुत अच्छा लगा।

(आगे लिखते हैं), 'अब तो श्री गुरुदेवकी कृपासे न निवृत्त हूँ, न प्रवृत्त हूँ...' अभी तो गुरुदेवकी कृपासे परिणति अंदरमें ऐसी काम करती है कि, निवृत्ति भी नहीं है और प्रवृत्ति भी नहीं है। कुछ और ही (चलता है)। 'अब तो श्री गुरुदेवकी कृपासे न निवृत्त हूँ, न प्रवृत्त हूँ, ऐसा निश्चय हो चुका है व पूर्वके निवृत्तपरिणामोंने अतः अब निश्चयके बजाय व्यवहारका पद ले रखा है।' (अर्थात्) वह व्यवहारकी निवृत्ति तो व्यवहारमें जाती है, निश्चयके बजाय वह व्यवहारके स्थानमें है। निवृत्तिके विकल्प भी व्यवहारके स्थानमें हैं।

मुमुक्षु :- यह कुछ समझमें नहीं आया।

पूज्य भाईश्री :- इसमें यह कहते हैं कि, गुरुदेवकी कृपासे अंतरमें बैठ गये फिर प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कोई अपेक्षा नहीं रही। अतः न तो निवृत्ति है (या) न तो प्रवृत्ति। मैं तो मेरे आत्मामें हूँ। प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कोई अपेक्षा (नहीं रही)।

क्योंकि प्रवृत्ति अशुभ है और निवृत्ति शुभ है जब कि मैं तो शुभाशुभसे पार हूँ। अतः मुझे निवृत्ति-प्रवृत्तिकी कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसी (ही) मेरी दशा कोई गुरुदेवकी कृपासे हो गई है, ऐसा कहना है। ऐसी मेरी दशा हो गई है।

मुमुक्षु :- परिणमनको नहीं देखते, सिर्फ ध्रुव स्वभावको ही देखते हैं।

पूज्य भाईश्री :- ध्रुव स्वभावको ही देखते हैं और ध्रुव (स्वभावमें) बैठ गये हैं। अतः बाह्य शुभाशुभकी प्रवृत्ति है वह शुद्ध परिणतिसे बिलकुल अलग ही है। यानी कि इसकी अपेक्षारहित परिणति है। शुद्ध परिणति शुभाशुभसे निरपेक्ष है, ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- भिन्न पड़ गये हैं ?

पूज्य भाईश्री :- वे भिन्न पड़ चुके हैं। प्रवृत्ति-निवृत्तिकी मुख्यता नहीं रहती। जैसे ही शुद्धतामें आ गये (कि) बाह्य शुभाशुभ प्रवृत्ति-निवृत्तिकी अपेक्षा नहीं रहती, ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- पूर्वमें जो निवृत्ति भायी थी वह इसके लिए भायी थी।

पूज्य भाईश्री :- इसके लिए ही भायी थी। अतः अब तो यह निश्चय मिल गया। पहले एक निश्चय किया था कि निवृत्ति लेनी है और निवृत्ति तक पहुँचना है। (परंतु) अब तो ऐसे पदमें आ गया हूँ कि, वह निश्चय अब व्यवहारमें जाता है, निश्चयमें नहीं रहता, ऐसा कहना है। ऐसा निश्चय हो चुका है कि, अब मैं प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हूँ। तथा, 'व' माने तथा। 'पूर्वके निवृत्तपरिणामोंने अतः अब निश्चयके बजाय व्यवहारका पद ले रखा है।' (यानी कि पहले) जो निवृत्तिके परिणाम थे कि, चलो अब पंद्रह दिन निवृत्ति लेकर सोनगढ़ जायें। वह अब व्यवहारमें जाता है। ये (परिणाम) अब व्यवहारके स्थानमें आ गये हैं।

'समय लगभग २० दिन पहले आया भी था, बंबई तक जाना भी हुआ था, सोनगढ़ पहुँचनेके विकल्प भी अधिक हुए थे मगर इधर ही लौटना पड़ा, ऐसे कारण हो गये थे। अब दशहरेके बाद उधर आना हो सकेगा।' बीस दिन पहले ज्यादातर अगस्तमें आनेका विचार हो गया होगा,



बंबई तक किसी कामवशात् आये होंगे, (परंतु) फिरसे वापिस कारणवशात् वहाँसे कलकत्ता वापिस जाना पड़ा इसलिए अभी दशहरेके बादमें आनेका विचार रखा है। करीब उन दिनों ही आते थे। या तो दशलक्षणी पर्युषणमें या फिर आसोज (महिनेमें) आते थे।

‘आप लोग साक्षात् चैतन्यमूर्ति गुरुदेवके सान्निध्यमें दशलक्षणी पर्वके अवसर पर अति उत्साहपूर्वक धर्मलाभ लेंगे, मुझ जैसे पुण्यहीनको यह लाभ कहाँ ?...’ आपको तो दशलक्षणी पर्वमें गुरुदेवका सान्निध्य मिलेगा, मैं तो हीनपुण्य हूँ, मुझे ऐसा लाभ कहाँसे मिले ? कि, दशलक्षणी पर्वमें मैं वहाँ आ सकूँ ! ऐसा कहते हैं।

‘अधिक क्या लिखूँ ? विकल्पोंको तो धधकती हुई भट्टीके योगोंका निमित्त है...’ विकल्पके निमित्त तो ये सारे संयोग हैं, जो कि मेरे लिए तो धधकती भट्टी है !! इतना जलता हूँ ! इतना इसमें जलता हूँ !! यह योग है - सारा जो कामका योग है वह सब मेरे लिए धधकती भट्टी है। **‘व इस मध्ये ही रहना हो रहा है,...’** और अभी तो इस भट्टीमें पड़े हैं। यहीं रहना पड़ता है। **‘जब कि चैतन्यमूर्ति विकल्पोंको छूनेवाली भी नहीं है;...’** यह एक (बात) जबरदस्त काम करती है !! कि जब विकल्पोंमें धधकती भट्टी जैसा अनुभव होता है तभी उसी वक्त चैतन्यमूर्ति जो मेरा पद है वह विकल्पोंको छूता भी नहीं है। फिर संयोगोंको तो कहाँसे छूए ? विकल्पको भी स्पर्श नहीं करता। मेरा स्थान तो विकल्पसे पार है। **‘जब कि चैतन्यमूर्ति विकल्पोंको छूनेवाली भी नहीं है; अधूरी दशाके विकल्पांशोंमें...’** ये विकल्प तो अधूरी दशाके कारण हैं न ! **‘अधूरी दशाके विकल्पांशोंमें...’** (यानी कि) उसवक्त भी। देखो ! यह ज्ञानदशा है। बहुत विचक्षणतासे यह वचन निकला है ! यह उनकी ज्ञानदशाकी साक्षी दे ऐसा एक वचन है, साबित कर दे ऐसा (वचन है)। **‘अधूरी दशाके विकल्पांशोंमें...’** यानी कि अधूरी दशाके कारण विकल्पके जो अंश उत्पन्न हुए हैं उस वक्त भी **‘श्रद्धामें जमी हुई इस मूर्तिका...’** उसी वक्त मेरी श्रद्धामें यह चैतन्यमूर्ति जमी हुई है। **‘इस मूर्तिका एक रस आलिंगन कहाँ !’** (अर्थात्) विकल्पोंमें उसका आलिंगन कहाँ (है) ! श्रद्धामें जो आलिंगन है वह आलिंगन विकल्पमें कहाँ है, (ऐसा कहते हैं)। एक ही समयकी दशामें दो उलटी-सुलटी परिस्थिति हैं। विकल्पांशका धधकती भट्टीके साथ संबंध है (और

उसीवक्त चैतन्यमूर्ति तो विकल्पको छूती भी नहीं है कि जो श्रद्धामें जम गई है। ऐसा जो श्रद्धाको आलिंगन है ऐसा आलिंगन विकल्पमें कहाँ है ! चैतन्यमूर्तिको विकल्पका आलिंगन नहीं है। वह कहाँसे होगा उसे ?

‘चैतन्यमूर्तिके एक रसमें ओत-प्रोत रहें, यह ही भावना।

‘अतः अब तो सब तरहसे एक चैतन्यमूर्तिके रसमें ओतप्रोत हो जाऊँ ! यही भावना है। यह (विकल्पकी) भट्टी बंद हो जाये ऐसी भावना है। भट्टीमें रहना नहीं सुहाता।

मुमुक्षु :- विकल्पोंसे भिन्नता भी अनुभवमें आती हो तो दुःख कहाँसे भासित हो ?

पूज्य भाईश्री :- क्यों, वह कोई चैतन्यकी पर्याय नहीं है क्या ? वैसे तो मुख्यरूपसे सुख भासित होता है, गौणरूपसे दुःख है। दुःख और सुख दोनों हैं, परंतु मुख्य सुख है, और दुःख गौणरूपसे है। परंतु वह गौणरूपसे (जो) थोड़ा दुःख है, वह भी बरदाश्त नहीं होता है, ऐसा कहना चाहते हैं। वह भी पुसाता नहीं है। भीतरमें पूर्ण सुख है और बाहरमें भी पूर्णतामें ही जाना है।

मुमुक्षु :- अधूरा मिले यह कैसे बरदाश्त हो ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अधूरा नहीं पुसाता है। अधूरा नहीं पुसाता। मुनिराजको नहीं पुसाता है न ! (तो) गृहस्थको कहाँसे चले ? ध्येय तो दोनोंका एक ही है, आश्रय तो दोनोंका एक ही है। वास्तवमें तो यह (बात) है।

मुमुक्षु :- वैसे देखा जाये तो वहाँ अपूर्णताका दुःख है।

पूज्य भाईश्री :- अपूर्णताका ही तो दुःख है न ! जितना विकल्प है उतनी आकुलता उत्पन्न होती है और वह खुदकी पर्याय होनेसे दुःखका अनुभव भी होता है, परंतु वह गौण है। लेकिन (दुःख) थोड़ा है, दोष थोड़ा है। दोष थोड़ा होनेसे दुःख थोड़ा है, परंतु वह लगता है ज्यादा, काफी लगता (है)। जैसे एक आदमीको बहुत अनुकूलता हो उसे थोड़ी प्रतिकूलता भी बड़ी लगती है। उसे थोड़ी प्रतिकूलता भी ज्यादा लगती है। जैसे कि कुछ लोगोंको सोनेकी आदत (ऐसी) हो, तो नहीं कहते हैं ? कि मुझे तो मेरा रुम, मेरा पलंग, मेरा घर ही चाहिए, किसीके घर जाना पड़े (और) सोना हो तो मुझे तो फिर नींद ही नहीं आती है। बिस्तर तो बिस्तर है। नींद आ जानेके बाद नीचे लेटा हूँ या ऊपर लेटा हूँ यह पता नहीं रहता। जमीन (पर) सोये हुको पता नहीं है कि मैं नीचे सोया हूँ और

पलंग पर सोये हुएको पता नहीं है कि मैं पलंग पर सोया हूँ। परन्तु मानसिक परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि, मुझे इसके बिना नहीं चलेगा। अब, यह तो सामान्य प्रतिकूलता है (फिर भी लगता है कि) मुझे नहीं चलेगा। वैसे ये अनंत सुखके धामको देखते हैं और निराकुल सुखमें आये हैं तो उन्हें थोड़ा दुःख भी बरदाशत नहीं होता है। उन्होंने एक जगह लिया है कि देवादिकके प्रति उपयोग जाता है तो भी भट्टी जैसा दुःख लगता है। देव, शास्त्र, गुरुके प्रति (उपयोग जाना) यह तो शुभभाव है और शुभभावमें तो कषाय मंद है, अब मंद कषायमें भट्टी जैसा दुःख कैसे लगता होगा ? इसीलिए तो विवाद चला। उस परसे तो प्रश्न उपस्थित हुआ (कि) ऐसा क्यों कहते हैं ? (परन्तु यह तो) आत्माकी शांति जिसने देखी हो उसकी बात है। किसकी बात है यह ? आत्माकी शांति जिसने देखी हो उसे पता चलता है कि विकल्प बाहर निकलता है तब भट्टी जैसा दुःख लगता है। ऐसी बात है। गुरुदेवने यह न्याय खोला है। (गुरुदेव) ऐसा बोले थे कि, आत्माकी शांति नहीं देखी है, वरना यह प्रश्न नहीं उठता। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्होंने (सोगानीजीने) आत्माकी शांति देखी है, इसलिए उन्हें यह खयालमें है। जो कहा है वह ठीक है। आत्माकी शांतिकी तुलना (करके) बात की है। आत्माकी शांतिकी तुलनामें कौनसी बात, कौनसी जगह, किस पदकी, किस स्थानकी, किस तरह बात चली है, यह सामनेवालेको पता नहीं है, ऐसा कहना है। क्योंकि वह अनभिज्ञ है, वह मार्गसे अनभिज्ञ है। यह साबित हो चुका था।

मुमुक्षु :- जब देवादिक प्रतिके शुभरागमें भी भट्टी जैसा दुःख लगता है तो जिसे अशुभमें भी दुःख न लगता हो तो ज्ञानको आवरण कितना अधिक होगा !

पूज्य भाईश्री :- अशुभमें भी भट्टी जैसा दुःख न लगता हो तो फिर ज्ञान कितना आवरित हो चुका होगा !! कि बहुत आवरणयुक्त हो चुका है।

मुमुक्षु :- इतना आवरण आ गया हो, फिर तो काम करनेमें भी काफी देर लगती है न ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसा कहकर क्या कहना चाहते हो ? देर लगे ऐसा कहनेके पीछे क्या अभिप्राय है यह पहले कहिये, फिर (उसका) निराकरण करते हैं।

मुमुक्षु :- हम हमारा काम तेजीसे करें।

पूज्य भाईश्री :- हो सकता है, आत्मामें ऐसी शक्ति है कि चाहे कभी भी बहुत बड़ा पलटा खा सकता है। सातवीं नरकमें गया उसने भी वहाँ पलटा खाया कि नहीं ? (वरना वह तो) अनिष्ट परिणाम करके गया था, यह बात तो साबित होती है। यह बात साबित करनेकी ज़रूरत नहीं है (फिर भी उसने) पलटा क्यों खाया ? (यह सूचित करता है कि) चाहे कभी भी जीव जबरदस्त पलटा खा सकता है।

मुमुक्षु :- चाहे कितना भी आवरण आ गया हो फिर भी ज़ोरसे कामको उठाये तो हो सकता है !

पूज्य भाईश्री :- अपने सोगानीजीका दृष्टांत लें। उन्होंने गुरुदेवको इतना नहीं सुना था, न तो उन्होंने गुरुदेवका उतना परिचय किया था। और उनसे पुराने तो काफी सुननेवाले थे। गुरुदेव १९९१से वहाँ निवास करते थे। यानी कि २० सालसे तो (वहाँ) सुननेवाले थे। तो फिर उन लोगोंको देर लगी और इनको देर नहीं लगी यह क्या सूचित करता है ? कि (काम होनेमें) देर नहीं लगती। यह क्या सूचित करता है कि इतनी देर लगनी चाहिए ऐसा कालक्रमका नियम यहाँ लागू नहीं होता।

जब ज्ञानी तुमको कहते हैं कि, विकल्पमें दुःख है, फिर विकल्पके अनुभवकी जाँच क्यों नहीं करते हो ? चलते हुए विकल्पके अनुभवकी जाँच जीव क्यों नहीं करता ? उसमें है वह बात नक्की है, दुःख है यह बात नक्की है और देखना चाहे तो नहीं दिखे, ऐसा तो कुछ है नहीं। खुद देखना चाहे और न दिखे, ऐसी परिस्थिति नहीं है। अज्ञानदशामें भी विकल्पमें दुःख लगता है, दिखता है, अनुभवमें आता है। अतः ऐसा नहीं है कि ज्ञानी होनेके बाद दिखे। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी होनेके बाद ही दिखे। मुमुक्षुकी भूमिकामें भी उसे दुःख लगता है। अगर (दुःख) नहीं लगता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि खुद देखनेकी मेहनत नहीं करता है। ऐसा उसका अर्थ है। वह खुद देखनेका प्रयास तक नहीं करता है।

'परमागमसार'में गुरुदेवका इस विषय पर एक वचनमृत है। वहाँ थोड़ी कड़क बात भी की है। दुःख लगे तो हटनेका सहज प्रयास हुए बिना रहे नहीं। क्यों यह विकल्प नहीं मिटता ? क्योंकि उसको वहाँसे हटनेके लिए जो दुःख लगना चाहिए वह नहीं लगता। फिर विकल्प छूटे कहाँसे ? दुःख लगे तो छूटनेका प्रयत्न हो और छूटनेका प्रयत्न हो

तब तो छूटे। देखो ! (परमागमसार बोल - ८८में) क्या कहते हैं ?) 'सम्यग्दृष्टिको राग या दुःख नहीं ऐसा तो दृष्टिकी प्रधानतासे कहा है।' वे नरकमें जाये तो भी 'अंतर सुखरस गटागटी' (ऐसा कहेंगे)। वह बात दृष्टिकी प्रधानतासे है। क्योंकि दृष्टि तो अनंत सुखके धामके अलावा किसीका स्वीकार नहीं करती। 'परंतु पर्यायमें जितना आनंद है, उसे भी ज्ञान जानता है।' जो आनंद प्रगट हुआ है, सुख प्रगट हुआ है उसे ज्ञान जानता है, अनुभव करता है। 'और जितना राग है...' साधकदशा है मतलब पूर्ण वीतरागता नहीं है, 'जितना राग है उतना दुःख भी साधकको है - ज्ञान वह भी जानता है। पर्यायमें राग है, दुःख है उसे जो नहीं जानता उसके तो धारणा-ज्ञानमें भी भूल है।' क्या कहा ? उसकी तो धारणाज्ञानमें भी भूल है। धारणामें ऐसे आना चाहिए कि विकल्प है सो दुःखरूप है। यह धारणामें होना चाहिए।

मुमुक्षु :- वैसे तो धारणाज्ञान है सो अनुभवज्ञान नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- भले ही अनुभव (ज्ञान) नहीं है किन्तु पहले धारणामें आयेगा तब तो अनुभवमें आयेगा न ! धारणा उलटी और अनुभव सुलटा, ऐसा होगा क्या ? धारणामें ऐसा हो कि यह विकल्पमें मुझे सुख लगा, उसे अनुभवमें कभी दुःख लगेगा क्या ? यह बन ही नहीं सकता। उसकी तो धारणाज्ञानमें भी भूल है, ऐसा कहते हैं।

'सम्यग्दृष्टिका बल बतलानेके लिए कहा है कि उसे आस्त्रव नहीं, परंतु जो आस्त्रव सर्वथा न हो तो मुक्ति होनी चाहिए।' मुक्तदशा होनी चाहिए, परंतु ऐसा नहीं है। जितना आस्त्रव है उतना दुःख है। धारणाज्ञानमें भूल (है ऐसा) इसलिए कहते हैं कि, यदि कोई ऐसा विचार करे कि, किसीको विकल्पमें दुःख लगता है और किसीको नहीं भी लगता। किसीको - सोगानीजी जैसेको लगता होगा, किसीको नहीं भी लगे और यँ ही ज्ञानी बन जाये - ऐसा कभी नहीं बनता। उसकी धारणा भी गलत है, ऐसा कहना है।

इसमें क्या है, अवलोकनके बिना जातिकी परख नहीं आती। और अवलोकन हो तो वह अवलोकन इतना सूक्ष्म व बारीक होता है कि, आत्माके स्वरूपका एक सूक्ष्म विकल्प उठे तो भी उसे तुरंत अशांतिका खयाल आता है (कि), इसमें उपाधि है, इसमें बोझा है, परिणाम पर बोझा है, उपाधि है, अशांति है, दुःख है और यह जाति विकारकी है। भले ही स्वरूपका विकल्प हो परंतु जाति विकारकी है। इसतरह

जाति पहचाने बिना पता नहीं चलता, वरना दूसरे तो भ्रांतिमें आ ही जाते हैं। उसे आत्मध्यान मान लेते हैं। एकाग्रताके साथ आत्माका थोड़ा चिंतवन चले तो कहेगा कि, हमें आत्माका ध्यान हो गया ! क्योंकि उसे जातिकी खबर नहीं है कि ये स्वभावजातिके परिणाम हैं या विभावजातिके परिणाम हैं ? इसकी खबर ही नहीं।

मुमुक्षु :- कोई विकल्प सुहाता है और कोई विकल्पमें दुःख लगता है इसका अर्थ यह हुआ कि जातिको नहीं पहचाना ?

पूज्य भाईश्री :- (हाँ), जातिको नहीं पहचाना। जातिको नहीं पहचाना इसलिए वेश बदलकर (विकल्प) आया कि भुलावेमें आ जाता है। ऐसा (होता) है। जातिको पहचाने तो भूला न पड़े।

मुमुक्षु :- अब तो प्रश्न यह नहीं कि दुःख लगना चाहिए कि नहीं, परंतु प्रश्न यह है कि अवलोकन करता है या नहीं ?

पूज्य भाईश्री :- अवलोकन करे तो दुःख लगे बिना रहे नहीं। दुःख, दुःख ही लगे। क्योंकि अवलोकन माने अनुभवको अनुभवमें लेना - जो भी अनुभव हो उसे अनुभवमें लेना इसका नाम अवलोकन ! अवलोकनका दूसरा नाम अनुभवपद्धति है। अपने अनुभव पर उपयोग ले जाने पर जो चलता हुआ अनुभव हो वह बराबर अनुभवमें आता है। उपयोग अनुभव पर चला जाता है। अनुभव पर उपयोग जाये तो अनुभवमें जो भी हो वह मालूम पड़ता है। सीधी-सी बात है। परंतु उपयोग अनुभव पर ले नहीं जाता। यह (बात) है। गड़बड़ इसमें है।

मुमुक्षु :- दुःख लगता नहीं, लगता नहीं ऐसा कहता है। दुःख लगेगा तब देखा जायेगा, ऐसा नहीं होना चाहिए।

पूज्य भाईश्री :- (दुःख) लगता नहीं, और जब लगेगा तब देखेंगे, इसका अर्थ यह हुआ कि अभी तो मुझे कोई चिंता नहीं है, भले ही नुकसान हो। यद्यपि जीवको नुकसान मालूम हो तो वह नुकसानको बरदाश्त कर ले ऐसा है ही नहीं। एक दृष्टांत लेते हैं कि, घरमें पानीके मटकेमें छिद्र या छोटी दरार पड़ जाये और इसमेंसे पानी चला जाता हो, पता चले कि अभी-अभी तो मटका भरा था, यह आधा कैसे हो गया ? पानी तो किसीने पिया नहीं। अभी पाँच मिनट पहले मटका भरा और यह आधा कैसे हो गया ?

कहींसे पानी जा रहा है। पनसालकी जगह गीली रहनेसे पता न चले, परंतु मटका आधा हो गया यह तो पता चला कि नहीं ? इसलिए तुरंत बारीकीसे देखेगा। बारीकीसे देखते ही पता चलेगा कि यह दरार पड़ गई है, वहाँसे पानी जाता है। मटके पर भी कहीं न कहीं फर्क दिखेगा न ! (पता चलनेके) बाद हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहेगा ? जिस मटकेमेंसे पानी चला जाता हो तो फिर यूँ ही बैठा रहेगा कि उसे बदल देगा ? भले ही चला जाता ! पानी ही तो जाता है, पैसा कहाँ जाता है ! (ऐसा सोचकर बैठा रहेगा ?) (अरे !) पानी जाये उतना नुकसान भी कोई बरदाश्त नहीं करना चाहता, तो फिर घी जाता हो तो ? यह तो घी जा रहा है। आत्माका अमृत लुटा जा रहा है !! परंतु उसको पता नहीं इसलिए जाने देता है। पता चले तो नहीं जाने दे। आत्माकी शांति और अमृत लुटा जा रहा है, अमृत चला जा रहा है, अमृत गिरते जा रहा है, घी बहता जा रहा है, कौन सहन करेगा इसको ? कोई सहन नहीं करता। इसलिए ज्ञानीको भट्टी जैसा दुःख लगता है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- एक तो गिरता है उसमें खुद सहयोग दे रहा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, साथ देता है। उलटा इसमें राजी होता है। नुकसान हो और राजी हो !! उसे मूर्ख ही कहेंगे या और कुछ ? खुदकी नुकसानीमें खुद राजी

हो तो वह मूर्ख ही कहलायेगा या और कुछ ? ऐसी बात है। घरमें बेटेकी शादीका प्रसंग आये तो राजी हो जाये, बेटा बड़ा हो जाये तो राजी हो जाये, फिर शादीका प्रसंग आये तो और खुशी हो जाये, लेकिन तुझे क्या होता है ? कि, तेरेमें तो नुकसान होता है।

मुमुक्षु :- तीव्र अशुभमें तो दुःख लगे, परंतु शुभमें अच्छा लगता है।

पूज्य भाईश्री :- अवलोकन नहीं है, (भावोंका) परिचय नहीं है, फिर ऐसा ही होवे न ! तीव्र आकुलताका परिचय है, ठीक ? और वह कम हो तब क्या होगा ? अच्छा ही लगेगा न ! १०५ डिग्री बुखारमें माथा फट रहा हो, फिर १०० डिग्री होनेपर अच्छा ही तो लगेगा ! परंतु क्या उसे रहने दे ? (वह बुखार) Normal होना ही चाहिए। अगर वह चालू रह जाये तो बड़ी मुसीबत हो जाये। १०५ डिग्रीका (बुखार) १०० तक लाना आसान है लेकिन १००से साढ़े निन्यानवे तक लाना मुश्किल है। उसमें डॉक्टरको भी पसीना आ जाता है। (अगर बुखार) नहीं उतरा तो भीतरमें कोई बड़ी भयंकर बिमारी है, इसलिए Temperature नहीं जाता है यह नक्की होता है। (इसके लिए) फिर Investigation में जाना पड़ता है।

(श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

है। बाह्य प्रसंग के त्याग के लिये अंतरत्याग कहा नहीं है, ऐसा है; तो भी इस जीव को अंतर्त्याग के लिये बाह्य प्रसंग की निवृत्ति को कुछ भी उपकारी मानना योग्य है।

नित्य छूटने का विचार करते हैं और जैसे वह कार्य तुरत पूरा हो वैसे जाप जपते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तक तथारूप नहीं है, शिथिल है; अतः अत्यंत विचार और उस जापका उग्रता से आराधन करने का अल्पकाल में योग करना योग्य है, ऐसा रहा करता है।

प्रसंग से कुछ परस्पर के संबंध जैसे वचन इस पत्र में लिखे हैं, वे विचार में स्फुरित हो आने से स्वविचार बल बढ़ने के लिये और आपके पढ़ने-विचारने के लिये लिखे हैं।

जीव, प्रदेश, पर्याय तथा संख्यात, असंख्यात, अनंत आदि के विषय में तथा रस की व्यापकता के विषय में क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

आपका यहाँ आने का विचार है, तथा श्री डुंगर का आना संभव है, यह लिखा सो जाना है। सत्संगयोग की इच्छा रहा करती है।

प्रश्न :- आत्मा को प्राप्त करने में ध्येय किसका होता है ? निश्चय का या व्यवहार का ?

समाधान :- ध्येय निश्चय का होता है। ध्येय निश्चय का रखना। व्यवहार से निश्चय में जाया नहीं जाता। निश्चय की दृष्टि, निश्चय के ओर की परिणति करे तो निश्चय में जा सकता है। जो जीव व्यवहार में सर्वस्व मानते हैं, व्यवहार से धर्म होता है ऐसा मानते हैं, उन्हें तो कोई अवकाश ही नहीं है। आत्मा स्वयं अनादि-अनंत तत्त्व है; यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है; मैं चेतनतत्त्व हूँ - ऐसी दृष्टि, प्रतीति तथा ऐसा ध्येय होना चाहिये। ऐसी भावना और खटक हो तो पलटकर पुरुषार्थ उपड़ता है। व्यवहार से निश्चय नहीं होता। निश्चय का ध्येय, दृष्टि एवं भावना रखे तो पलटने का अवकाश है। व्यवहार तो व्यवहार ही है, बंधरूप है।

सर्वस्वभूत तो आत्मा है। आत्मामें से शुद्धपर्याय प्रगटती है। यह शुभ तो शुभ ही है। जब तक शुद्धता नहीं होती तब तक शुभ में खड़ा है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र की भावना किया करता है। परन्तु यथार्थ दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो चैतन्य को ग्रहण करने से प्रगट होते हैं। आत्मामें से ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रगट होते हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२८)



प्रश्न :- चैतन्य को ग्रहण करने में पठन, मनन, सत्पुरुषों का समागम आदि में विशेषता-महत्त्व किसका है ?

समाधान :- सब साथ होने चाहिये। पठन-मननादिसे चैतन्य की समझ के लिये होने चाहिये। आत्मा का ग्रहण कैसे हो वह ध्येय रखकर सत्पुरुषों का समागम, वाणी सब साथ होने चाहिये। गुरुदेवने क्या कहा है ? मार्ग क्या बतलाया है ? - तदनुसार सत्पुरुष के आश्रयपूर्वक अपनी विचारशैलीसे स्वयं निर्णय करके आत्मस्वभाव का ग्रहण करना। गुरुदेव ने क्या कहा है उसके साथ मिलान करके स्वयं आगे बढ़ना। समझता तो अपने ज्ञान से है परन्तु गुरुदेवने क्या मार्ग बतलाया है उसे साथ रखकर विचार करता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२९)

प्रश्न :- यह तत्त्व के पोषण के लिये एकांत विशेष होना चाहिये, ऐसा जरूरी है ?

समाधान :- एकांत की भावना आती है। एकांत ज्यादा होना ही चाहिये ऐसा नहीं है। लेकिन एकांत हो तो विचार करने का, पठन करने का एक प्रकार से साधन बनता है। एकांत होना ही चाहिये, ऐसा नहीं है। किसीको पठन अच्छा लगता है, और किसीको एकांत अच्छा लगे, ऐसे सबको अपनी परिणति के अनुसार होता है। एकांत हो तो अपने को विचार-मनन करने का टाईम ज्यादा मिलता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२३०)



प्रश्न :- जो उदयभाव क्रममें आ पड़ा हो उसे तो आगे पीछे किया नहीं जा सकता, और उस समय इधर के (तत्त्व के) विचारा-मनन टूट जाते हैं तो क्या किया जाय ?

समाधान :- अपनी भावना हो तो पुरुषार्थ करके परिणाम को पलट सकता है। यदि परिणाम पलटे न जा सके हों तो अनादिकाल से कोई जीव पुरुषार्थ करके, भेदज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही नहीं सकता। पर्याय का स्वभाव ही पलटने का है। स्वभाव की भावना करके स्वभाव को ग्रहण करे तो विभावपर्याय का परिवर्तन हो। जो पर्याय उधर (विभाव में) जाती है उसे स्व की ओर मोड़ना वह अपने हाथ की बात है। क्रमबद्ध पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ होता है। अकेला क्रमबद्ध नहीं होता। क्रमबद्ध में स्वभाव, पुरुषार्थ सब जुड़े हुए होते हैं। जिसे विभाव ही सर्वस्व लगता है और उससे छूटना अच्छा नहीं लगता उसका कर्मबद्ध भी वैसा ही है। जिसे विभाव नहीं रुचता और स्वभाव ही रुचता है उसका क्रमबद्ध भी उसी प्रकार का होता है। उसके पुरुषार्थ की गति स्वभाव की ओर होती है, उसका क्रमबद्ध पुरुषार्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२३१)



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा



प्रश्न :- यह भावना मन्द है या तीव्र है वह कैसे पहिचाना जा सके ?

समाधान :- अपनी मन्दता देखकर पहिचानने में आती है कि यह धीमे-धीमे चल रही है, तथा उग्रता नहीं होती इसलिये अभी उग्रता की कमी है। धीमे-धीमे चले, मन्दगति से चले उसे देर लगती है; जिसे उग्रता हो वह त्वरा से पहुँच जाता है। धीमीगतिसे चलनेवाला वहाँ खड़ा रहे तो कैसे पहुँचे ? उसे खयाल आता है कि मैं नहीं पहुँच पा रहा हूँ अतः मेरी गति धीमी है। मैं जहाँ का तहाँ खड़ा हूँ, आगे नहीं बढ़ रहा हूँ।

भावनगर जाना हो और धीमी गति से चले तो पहुँचने में देर लगे, तेजगति से चलनेवाला शीघ्र पहुँच जाता है। नहीं पहुँचा जाता तो समझना कि धीमी गति है; (भावना) ऊपर-ऊपर से हो रही है; अंतर से प्रगट हो तो पहुँच जाता है। (स्वानुभूतिदर्शन-२२३)



प्रश्न :- जोर तो स्वयं को लगना है न ?

समाधान :- पुरुषार्थ तो स्वयं को ही करने का है, दूसरा कोई नहीं करवा देता। परिभ्रमण करनेवाला भी स्वयं और मोक्ष प्राप्त करनेवाला भी स्वयं-स्वतंत्र है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२४)



प्रश्न :- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अति घनिष्ट है। एक महापुरुष का वचन जो असर करता है उतना पढ़ने से नहीं होता।

समाधान :- तथापि स्वयं स्वतंत्र है। गुरुदेव मार्ग को स्पष्ट कर गये हैं, करना आपने को है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२५)



प्रश्न :- क्या ज्ञान, दर्शन, चारित्र सभों में अपने अस्तित्व का ही जोर लेने का है ?

समाधान :- हाँ, सभी में अपने अस्तित्व का ही जोर लेने का है।

'मैं ज्ञायक, मैं चैतन्य' इस प्रकार तू ज्ञायक का (अपना) अस्तित्व ग्रहण कर तो स्वयं जैसा है वैसा प्रगट हो। तू अपना अस्तित्व ग्रहण कर तो जो स्वभाव है वह प्रगटरूप परिणम जायेगा। तूने अपना अस्तित्व ग्रहण नहीं किया इसलिये विभाव पर्यायें प्रगट होती हैं। तू अपना अस्तित्व (स्वयं) ग्रहण कर तो उसमें से स्वभावपर्यायें प्रगट होंगी।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२६)



प्रश्न :- चिंतनमें से उपयोग बाहर जाये तब क्या करना ?

समाधान :- उपयोग बाहर जाय तब जिसे सहजदशा होती है उसे तो अपनी भेदज्ञान परिणति चलती ही रहती है। जिज्ञासु का उपयोग बाहर जाय तब वह अंतर में ऐसा भाव रखे कि करना तो कुछ और ही है। उपयोग बाहर जानेपर पर के साथ एकत्वबुद्धि होती है, परन्तु 'मैं तो भिन्न चैतन्य हूँ' - ऐसे वह भावना रख सकता है। जिसकी सहज परिणति हो उसकी तो बात ही अलग है, उसे तो ज्ञायक की धारा निरन्तर वर्तती ही है। उपयोग बाहर जाय तथापि प्रतिक्षण भेदज्ञान रहता है, उसे स्मरण नहीं करना पड़ता। एकबार स्वभाव में एकत्व हो जाय उसे याद नहीं करना पड़ता कि मैं जुदा हूँ। जब उपयोग बाहर जाय उस क्षण भी ज्ञायक की सहज जुदी धारा चलती ही रहती है।

परन्तु जिसके सहजदशा नहीं है उसका उपयोग बाहर जाय तो भावना रखे कि करना कुछ और ही है, उपयोग अंतर में जाना चाहिये। (स्वानुभूतिदर्शन-२२७)



(शेष अंश पृष्ठ संख्या-२० पर)

श्री सत्पुरुषों को नमस्कार

सर्व क्लेश से और सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय एक आत्मज्ञान है। विचार के बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंग से जीव का विचारबल प्रवृत्त नहीं होता, इसमें किंचित् मात्र संशय नहीं है।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करने से असत्प्रसंग का बल घटता है, सत्संग के आश्रय से असत्संग का बल घटता है। असत्संग का बल घटने से

आत्मविचार होने का अवकाश प्राप्त होता है। आत्मविचार होने से आत्मज्ञान होता है, और आत्मज्ञान से निजस्वभावस्वरूप, सर्व क्लेश एवं सर्व दुःख से रहित मोक्ष प्राप्त होता है, यह बात सर्वथा सत्य है।

जो जीव मोहनिद्रा में सोये हुए हैं वे अमुनि हैं। निरंतर आत्मविचारपूर्वक मुनि तो जाग्रत रहते हैं। प्रमादी को सर्वथा भय है, अप्रमादी को किसी तरह से भय नहीं है, ऐसा श्री जिनेन्द्रने कहा है।

सर्व पदार्थ के स्वरूप को जानने का हेतु मात्र एक आत्मज्ञान करना ही है। यदि आत्मज्ञान न हो तो सर्व पदार्थों के ज्ञान की निष्फलता है। जितना आत्मज्ञान होता है उतनी आत्मसमाधि प्रगट होती है।

किसी भी तथारूप योगको प्राप्त करके जीवको एक क्षण भी अंतर्भेदजागृति हो जाये तो उससे मोक्ष विशेष दूर नहीं है। अन्यपरिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतना जीवसे मोक्ष दूर है।

यदि कोई आत्मयोग बने तो इस मनुष्य भव का मूल्य किसी तरह से नहीं हो सकता। प्रायः मनुष्यदेह के बिना आत्मयोग नहीं बनता ऐसा जानकर, अत्यंत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है।

विचार की निर्मलता से यदि यह जीव अन्य परिचयसे पीछे हटे तो सहज में अभी ही उसे आत्मयोग प्रगट हो जाये। असत्संग-प्रसंग का घिराव विशेष है, और यह जीव उससे अनादिकाल का हीनसत्त्व हुआ होने से उससे अवकाश प्राप्त करने के लिये अथवा उसकी निवृत्ति करने के लिये यथासंभव सत्संगका आश्रय करे तो किसी तरह पुरुषार्थयोग्य होकर विचारदशा को प्राप्त करे।

जिस प्रकार से इस संसार की अनित्यता, असारता अत्यंतरूपसे भासित हो उस प्रकार से आत्मविचार उत्पन्न होता है।

अब इस उपाधिकार्य से छूटने की विशेष-विशेष आर्ति हुआ करती है, और छूटे बिना जो कुछ भी काल बीतता है, वह इस जीव की शिथिलता ही है, ऐसा लगता है; अथवा ऐसा निश्चय रहता है।

जनकादि उपाधि में रहते हुए भी आत्मस्वभाव में रहते थे, ऐसे आलंबन के प्रति कभी भी बुद्धि नहीं जाती। श्री जिनेन्द्र जैसे जन्मत्यागी भी छोड़कर चल निकले, ऐसे भय के हेतुरूप उपाधियोग की निवृत्ति यह पामर जीव करते-करते काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा, ऐसा भय जीव के उपयोग में रहता है, क्योंकि यही कर्तव्य है।

जो रागद्वेषादि परिणाम अज्ञान के बिना संभवित नहीं है, उन रागद्वेषादि परिणामों के होते हुए भी, सर्वथा जीवन्मुक्तता मानकर जीवन्मुक्तदशा की जीव आसातना करता है, ऐसे प्रवृत्ति करता है। सर्वथा रागद्वेषपरिणाम की परिक्षीणता ही कर्तव्य है। जहाँ अत्यंत ज्ञान हो वहाँ अत्यंत त्याग का संभव है। अत्यंत त्याग प्रगट हुए बिना अत्यंत ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्री तीर्थकरने स्वीकार किया है।

आत्मपरिणाम से जितना अन्य पदार्थ का तादात्म्य-अध्यास निवृत्त होना, उसे श्री जिनेन्द्र त्याग कहते हैं।

वह तादात्म्य-अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होने के लिये यह बाह्य प्रसंग का त्याग भी उपकारी है, कार्यकारी

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१९ पर)

